काव्य एवं काव्य-रूप

डॉ. जगदीशप्रसाद कौशिक
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
श्री कल्याण महाविद्यालय, सीकर (राज.)

ग्रन्थ-विकास, जयपुर

प्रथम संस्करण : 1987

मूल्य : पचास रुपये मात्र

प्रकाशक : ग्रन्थ-विकास
सी-37, राजापार्क, आदर्शनगर, जयपुर

मुद्रक : झूलेलाल प्रिण्टर्स, जयपुर

प्राक्कथन्

मानव ब्रह्माण्ड की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। चिन्तन का प्राधान्य इसकी वह विशेषता है जो इसे शेष सृष्टि से पार्थक्य प्रदान करता है। दूसरी ओर मानव रुचि-अरुचि, आकर्षण-विकर्षण, प्रेम-घृणा, राग-द्वेष जैसे भिक्षुओं का घर है। मानव वृत्तियाँ इतनी चञ्चल होती हैं कि उनके सम्बन्ध मे निश्चित नियमो का प्रावधान नहीं किया जा सकता फिर भी काव्य वह सशक्त विधा है जो इन वृत्तियो को नियन्त्रित कर सञ्चालित करने की क्षमता रखती है। निरकुशतम व्यक्ति भी काव्य-शक्ति के समक्ष नतमस्तक हो जाता है। यही कारण है कि ज्ञान की इस धारा की आराधना मानव-समुदाय अपने जीवन के प्रारम्भिक काल से करने लग पड़ा था। किसी भी सभ्यता को ले लीजिए उसके जन्म, पोषण एवं संहार या समापन मे साहित्य या काव्य की प्रमुख भूमिका रही है। प्रकृति के मनोरम प्रांगण मे जब मनुज ने आँखें खोली तो वह उसके सौन्दर्य से अभिभूत हो उठा, पक्षियो के कल-रव, मृगों की चौकड़ी भरती हुई पंक्तियो, सरिताओं की तरल-तरगों, निर्झरो के कल-कल गान, ऊषा की पीत-आभा, बाल सूर्य की स्वर्ण-रश्मियों तथा सोम की शीतलता एवं ज्योत्स्ना मे स्नात रजनी ने उसे अपने ओर आकृष्ट किया और सहृदय मनुज की वाणी ने साकार रूप ग्रहण कर लिया। वाणी के इसी साकार रूप को आगे चल कर विद्वानों एवं मनीषियों ने कविता, काव्य या साहित्य नाम प्रदान किया। एक ने गाया दूसरे ने सुना और इस प्रकार परम्परा बनती चली गयी। प्रकृति के प्रागण मे इठलाते मानव ने उसके साथ किसी अलक्ष्य या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध का अनुभव किया। उसने फिर यह भी सोचना प्रारम्भ किया कि प्रकृति का यह गोचर स्वरूप जब इतना सुन्दर है तो उसका अन्तर कितना सुन्दर होगा और प्रकृति के अन्तस्तल मे प्रविष्ट होकर उसके सुख-दुख, करुणा, क्रूरता, मादकता, प्रेम आदि की झाँकियाँ देखने लगा। अब वह विकास की दूसरी सीढ़ी से तीसरी सीढ़ी की ओर बढ़ा और उसे लगा कि विधाता की इस नाना रूप मयी सृष्टि में वह स्वयम् सर्वाधिक सुन्दर है और सत्य है। उसने जाँचा-परखा और मानव के अन्तरतम मे खो गया। उसके कण्ठ से सहसा फूट पड़ा यह स्वर—'विहग सुन्दर, सुमन सुन्दर। मानव तू सबसे सुन्दरतम।' बात यही नही रुकी। उसने विकास की चौथी सीढ़ी पर पैर रखा। इस परम रमणीय सृष्टि का निर्माता और नियन्ता कौन है? वह कितना मनोहारी और रमणीय होगा, यह जिज्ञासा कवि के मन में अपने पख फड़फड़ाने लगी। उसके मुख से निकला—'हे अनन्त रमणीय तुम कुछ हो, ऐसा होता भान। धीर, मन्द, गम्भीर स्वरयुत यही कर रहा सागर गान।' इस प्रकार विकास-प्रक्रिया

की इस यात्रा में कवि ने विधाता समेत उसकी समग्र सृष्टि को अपनी वाणी का विषय बना लिया। कविता-कामिनी अपने नाना रूपों में विभिन्न प्रकार की वेश-भूषाओं से समलङ्कृत हो विश्व-प्रांगण में सृष्टि की हृदय-वीणा के तारों को झन-झनाने लगी और आज तक अनवरत गति से अथकित अपने कर्तव्य-वहन में निरत है।

दीर्घ-अन्तराल के पश्चात् ज्ञान की दूसरी धारा का प्रस्फुटन हुआ। जब मनीषियों एवं काव्य मर्मज्ञों ने वाणी के विभिन्न रूपों का दर्शन किया तो वे उसके प्रभावों, उद्‌गम-स्रोतों और रूपों का विवेचन करने लगे। सर्जनात्मक साहित्य के विभिन्न रूपों एवं लक्षणों का निर्धारण ज्ञान की इस दूसरी शाखा के अन्तर्गत हुआ जिसे काव्य-शास्त्र के नाम से ख्याति प्राप्त हुई। इस शास्त्र के अन्तर्गत काव्य का स्वरूप, लक्षण निर्धारण, उसके भेदोपभेद, काव्य की मूल आत्मा आदि पर विचार किया जाता है।

ज्ञान की इस दूसरी धारा के परिप्रेक्ष्य में ही प्रस्तुत पुस्तिका का सर्जन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के काव्य-सम्बन्धी मतों अथवा विचारों को दृष्टिगत रखते हुए काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। तदुपरान्त काव्य के हेतु एवं प्रयोजनों को समझाने का प्रयत्न है तथा प्रसंगवश पाश्चात्यों के 'कल्पना-तत्त्व' और भारतीयों की 'प्रतिभा' शक्ति के साम्य-वैषम्य' पर प्रासंगिक रूप से विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार काव्य के विधायक तत्त्वों का विवेचन करने के पश्चात् काव्य-रूपों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। काव्य के विभिन्न रूपों के वैशिष्ट्य सूचक लक्षणों को स्पष्ट करते हुए विद्वानों द्वारा निर्धारित तत्त्वों पर विचार किया गया है तथा प्रमुख काव्य-रूपों के आज तक अस्तित्व में आये उनके भेदोपभेदों पर विस्तृत चर्चा की गई है। इसी आधार पर इस पुस्तक का नाम 'काव्य एवं काव्य-रूप' रखा गया है।

विषय-सामग्री की मौलिकता का दावा तो मैं नहीं कर सकता क्योंकि पुरातन एवं अर्वाचीन विद्वानों ने इस सम्बन्ध में इतना कुछ लिखा है कि आज के युग का कोई भी व्यक्ति इस प्रसंग में मौलिकता का दम्भ नहीं कर सकता। हाँ! कथन की शैली एवं सिद्धान्तों की व्याख्याएँ मेरी अपनी है, यह मैं निर्भ्रान्ति रूप से कह सकता हूँ। अब पुस्तक सुधी पाठकों के हाथों में है। मैं अपने कृत्य में कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय तो वही करेंगे। इस प्रसंग में मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि इस पुस्तक की अच्छाइयाँ मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों की हैं और इसमें रही त्रुटियों का दायित्व मेरा है। मैं उन सभी विद्वानों का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिनके ग्रन्थों से मैंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग, प्रेरणा या मार्ग-दर्शन प्राप्त किया है।

काव्य

भाषा-विवेचन एवं काव्यालोचन के क्षेत्र में भारत विश्व का अग्रणी रहा है। विश्व के प्राचीनतम लिपिबद्ध ग्रन्थ वेद जहाँ एक ओर धार्मिक विधानों के अक्षय कोष हैं, वहाँ दूसरी ओर उनमें कविता-कामिनी का भ्रूभंगिमा का अभूतपूर्व सौन्दर्य भी विद्यमान है। ऋग्वेद का उषा सूक्त कविता का श्रेष्ठतम उदाहरण है, जिसमें ऋषि की सौन्दर्यान्वेषिणी प्रवृत्ति का प्रतिफलन हुआ है। यही वह बिन्दु है, यही वह केन्द्र स्थल है, जहाँ से प्रस्फुटित काव्य एवं काव्य-शास्त्र अनवरत गति से अद्यतन प्रवहमान हैं। कविता मानवीय हृदय की आकुल वीणा से निस्सृत करुण संगीत है तो काव्य-शास्त्र उसके आस्वादन का परिचायक नियामक तत्त्व है। काव्य-शास्त्र कविता में निहित उन बिन्दुओं का चयन करता है, जिनके कारण सहृदय सामाजिक का मन किसी कविता को पढ़कर, सुनकर या देखकर आत्म-विभोर हो उठता है। इसीलिए कहा जाता है कि—कवि: करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिता:। कविता कवि-हृदय का स्वत:-स्फूर्त स्रोत है, जो घनीभूत होता हुआ शान्त क्षणों में सहसा प्रस्फुटित हो जाता है। कवि कविता का सर्जन करते समय भाव-गंगा में इतना निमग्न हो जाता है कि वह स्वयम् नहीं जानता होता कि वह क्या कर रहा है? क्यों कर रहा है और किसलिए कर रहा है? जब भाव-स्रोतस्विनी का प्रवाह शान्त होता है, तब उसकी आँखें खुलती हैं और उसे ज्ञात होता है कि उसने किसी भाव-शिशु को साकार रूप प्रदान कर दिया है। यही भाव-शिशु अपने सौन्दर्य के कारण रसिक जनों के गले का हार और पण्डितों के विवेचन का विषय बन बैठता है। कविता हृदय की निधि है और काव्य-शास्त्र मस्तिष्क का पराक्रम। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस दिन मानव-हृदय हर्षोल्लास या पीड़ा-वेदना से आप्लावित होकर अपने 'स्व' से ऊपर उठकर काव्य-शिशु को जन्म देता है, उसके तत्काल पश्चात् ही काव्य-शास्त्र का भी उद्भव हो जाता है। भारतीय मनीषियों ने उस समय से ही काव्य का आलोड़न-विलोड़न, विवेचन-विश्लेषण, प्रारम्भ कर दिया था, जब शेष संसार कविता की मादक खुमारी में झूम रहा था। भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास का अवलोकन करने पर एक आश्चर्यजनक उलझन उपस्थित होती है। काव्य के क्षेत्र में प्रारम्भ में ही जिस नि:स्पृह एवं अद्भुत प्रतिभा ने काव्य के जिस तात्त्विक सत्य का अन्वेषण किया था, उसकी गति तत्काल अवरुद्ध क्यों हो गयी और परवर्ती काव्यशास्त्री कविता के शरीर को ही क्यों महत्त्व देने लग गए? भरतमुनि ने कविता

के मूल तत्त्व 'रस' का प्रारम्भ मे ही शोध कर लिया था किन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसे उचित स्वीकृति प्रदान न कर अपना ध्यान कविता के बाह्य सौन्दर्य पर केन्द्रित कर लिया। ऐसा लगता है कि परवर्ती आचार्य एक लम्बे समय तक काव्य के बाह्य सौन्दर्य की चकाचौंध में खोये रहे। इसका कारण चाहे समय का लम्बा अन्तराल रहा हो, चाहे भरतमुनि द्वारा रस, विवेचन नाटक के सन्दर्भ में होने के कारण अन्य आचार्यों ने काव्य की अन्य विधाओं मे उसे स्थान देना उचित नहीं समझा हो। खैर! कारण चाहे जो कुछ रहा हो किन्तु रस को अपना उचित आसन प्राप्त करने के लिए दीर्घकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। अधुना पुनः उसका आसन इन्द्र के आसन की तरह दोलायमान है, जिस पर यथा समय विचार किया जाएगा।

काव्य की परिभाषा एवं स्वरूप

कुन्तक ने कवि-कर्म को 'काव्य' की संज्ञा से अभिहित किया है। संस्कृत वैयाकरणों ने 'कवि' शब्द के साथ 'ण्यत्' प्रत्यय के योग से 'काव्य' शब्द की सिद्धि की है, जिसका अर्थ होता है कवि कौशल या कविता आदि। यद्यपि भारतीय मनीषियों ने प्रारम्भ से ही काव्य की आत्मा को लेकर विचार-विमर्श अधिक किया है, तथापि काव्य को स्वतन्त्र रूप से परिभाषित करने का भी प्रयत्न किया है। काव्य की आत्मा के प्रश्न को लेकर प्राचीन आचार्यों ने विस्तार से विवेचन एवं विश्लेषण किया है। स्थिति यहां तक आ पहुँची कि आचार्यों के इन विचारों ने पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का रूप ग्रहण कर लिया, जो हिन्दी-भाषा-युग तक किसी न किसी रूप में प्रचलित रहे हैं। हम इन समस्त सम्प्रदायों पर पृथक्-पृथक् अध्यायों में विचार करेंगे। प्रमुख सम्प्रदाय इस प्रकार हैं---(1) अलंकार सम्प्रदाय, (2) रीति सम्प्रदाय, (3) वक्रोक्ति सम्प्रदाय, (4) ध्वनि सम्प्रदाय, (5) रस सम्प्रदाय और (6) औचित्य सम्प्रदाय।

'काव्य की आत्मा' के प्रश्न के अतिरिक्त विभिन्न आचार्यों ने काव्य का समग्र लक्षण एक ही स्थान पर प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है। यद्यपि ये लक्षण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आचार्य के सम्बद्ध सम्प्रदाय की भावना से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु इसके साथ ही उनमें कुछ और भी समाविष्ट है। अत: उन पर स्वतन्त्र रूप से विचार कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। यों तो काव्य-शास्त्र सम्बन्धी चलते उल्लेख वेद, उपनिषद्, आरण्यक, अष्टाध्यायी तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाते हैं, परन्तु समग्र रूप से काव्य-शास्त्र का शास्त्र के रूप में चित्रण सर्वप्रथम भरतमुनि ने किया है। उनका नाट्य-शास्त्र अधुना उपलब्ध है। काम-सूत्र के रचयिता वात्स्यायन और काव्य-मीमांसा के रचयिता राजशेखर ने अनेक काव्य-शास्त्रियों के नामों का उल्लेख किया है किन्तु उनमें से किसी का भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में भरतमुनि को ही भारत का आदि काव्य-शास्त्री एवं नाट्य-शास्त्र को काव्य-शास्त्र का आदि ग्रन्थ माना जाता है। आधुनिक विद्वान् भरतमुनि को ईसा पूर्व पहली शताब्दी से ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के बीच में होना

प्रतिपादित करते हैं। भरतमुनि के पश्चात् लगभग 'एक हजार' वर्ष तक किसी उल्लेखनीय आचार्य का नाम प्राप्त नही होता हैं और न ही कोई आधिकारिक ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। भरतमुनि के पश्चात् आचार्य 'भामह' का नाम इस क्षेत्र मे अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है और भामह के पश्चात् काव्य-शास्त्र की गति अद्यपर्यन्त अव्यवहित रूप से प्रवहमान है। अतः इस प्रसंग मे हम भरतमुनि से लेकर आज तक के आचार्यों के काव्य-सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे। किसी भी विधा की परिभाषा के लिए यह आवश्यक है कि वह त्रिदोषों— (1) अव्याप्ति, (2) अति व्याप्ति और (3) असम्भव-से मुक्त हो तथा संक्षिप्त हो एवं मूल पार्थक्यकारी विशेषता से संवलित हो। वास्तव मे किसी भी विधा की परिभाषा में वाञ्छनीयता एवं विकल्प के लिए स्थान नही होता। वस्तुतः परिभाषा में 'क्या होना चाहिए' के स्थान पर वह 'क्या है ?' पर विचार होना चाहिए। इन्हीं कतिपय सूत्रों के आधार पर हम प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदत्त काव्य की परिभाषाओं पर विचार करेंगे। सर्वप्रथम हम भरतमुनि को उद्धृत करते है। आपके अनुसार— 'रसमयी, सुखबोध्य मृदुललित पदावली को काव्य कहते हैं'।[1] भरतमुनि ने प्रारम्भ में ही 'रस' को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया था। यह बात दूसरी है कि यह घोषणा नाटक के क्षेत्र में की गयी थी। फलतः दीर्घ समय तक आचार्य इसे अपनी स्वीकृति देने से कतराते रहे। भरतमुनि की यह परिभाषा अपने आप में पूर्ण प्रतीत होती है। काव्य शब्द और अर्थ का संघात होता है, जो भाव एवं कला का प्रतिनिधित्व करता है। यो तो समस्त वाङ्मय मे ही शब्द और अर्थ का संघात होता है। चाहे राजनीतिशास्त्र हो, चाहे प्राणिशास्त्र, चाहे अर्थशास्त्र हो और चाहे भौतिक शास्त्र, शब्दार्थ के संयोग के बिना इनका अस्तित्व नही है। रसमयता और मृदुललित शब्दावली ही काव्य को उक्त शास्त्रों से भिन्न अस्तित्व प्रदान करती है। अतः भरतमुनि ने निस्सन्देह ऐसी पदावली को महत्त्व दिया है, जो रसमयी (भाव पक्ष) हो और मार्दव तथा लालित्य (कला पक्ष) से युक्त हो। अतः स्पष्ट है कि भरतमुनि काव्य में भाव पक्ष और कला पक्ष दोनो को समान स्थान देने के पक्षपाती प्रतीत होते है। इनके पश्चात् 'भामह' और दण्डी ने काव्य की परिभाषा को एकाङ्गी बना दिया और उनकी दृष्टि काव्य के कला पक्ष पर ही केन्द्रित हो कर रह गयी। भामह के अनुसार 'शब्द और अर्थ के सामंजस्य से पूर्ण उक्ति ही काव्य है'[2] और दण्डी के अनुसार 'अभिलषित अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली ही काव्य है।'[3] यद्यपि ये ऐसी परिभाषाएँ हैं कि विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण से इनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत कर सकते हैं तथापि दोनों ही परिभाषाएँ अपने आप में पूर्ण नहीं कही जा

---

1. डॉ. नगेन्द्र, रीति-सिद्धान्त, पृष्ठ 6 पर उद्धृत।
2. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् भामह, काव्यालंकार।
3. इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली—दण्डी, काव्यादर्श—

सकती । इन परिभाषाओं मे अतिव्याप्ति दोष स्पष्ट ही परिलक्षित किया जा सकता है । पहली बात तो यह है कि यह लक्षण ज्ञान की किसी भी विधा पर लागू किया जा सकता है, क्योंकि दर्शन, आयुर्वेद, धनुर्वेद सभी विधाएँ शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही है और क्या है ? इन ग्रन्थों मे प्रयुक्त पदावली भी अभिलषित अर्थ का ही बोध कराती है । फलत समस्त वाङ्मय ही इस परिभाषा की सीमा में आबद्ध हो जाता है और इस प्रकार सभी विधाओं की काव्य संज्ञा हो जाती है, जो कि उचित नहीं है । दूसरे, यदि इस परिभाषा को उक्त दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों की दृष्टि मे रखकर व्याख्यायित किया जाए तो सालंकार पदावली की काव्य संज्ञा निर्धारित होती है क्योंकि 'भामह' स्पष्ट रूप से उद्घोषित करते हैं कि नारी का कान्त मुख भी अलंकार रहित शोभा नहीं देता ।[1] दण्डी काव्य के शोभाकारी (आत्मा) धर्म को अलंकार कहते है ।[2] अब स्पष्ट है कि इनका 'शब्दार्थ' अलंकार के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए और इस आधार पर दोनों ही आचार्य काव्य के कला पक्ष को महत्त्व देते हुए दृष्टिगत होते है । तीसरे, इनकी उक्त परिभाषा 'अभिव्यञ्जना' की परिभाषा तो हो सकती है, काव्य की नहीं और इस प्रकार ये आचार्य क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद के अधिक निकट प्रतीत होते है, जो अभिव्यञ्जना को ही काव्य मानते हैं । इनके अनुसार सफल उक्ति ही सौन्दर्य है । उसके अतिरिक्त सौन्दर्य कोई वाह्य तत्त्व नहीं है । 'सफल अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है क्योंकि असफल अभिव्यञ्जना तो अभिव्यञ्जना ही नहीं है ।'[3] यहाँ पर क्रोचे ने अभिव्यञ्जना की सीमा को अत्यन्त संकुचित बना दिया है तथा अपनी दृष्टि के अनुसार ही इसकी व्याख्या कर डाली है, अन्यथा अभिव्यञ्जना तो अभिव्यञ्जना ही है, चाहे वह काव्य में हो और चाहे ज्ञान की अन्य शाखाओं में । क्रोचे अन्यत्र तीव्र अनुभूति की बात कह कर यद्यपि अपने आपको उपर्युक्त आरोप से बचा लेने का प्रयास करते हैं किन्तु भारतीय आचार्य ऐसा नहीं कर पाए ।

उपरिकथित दोनों आचार्यों के पश्चात् 'वामन' ने अपने 'काव्यालंकार-सूत्र' ग्रन्थ मे काव्य की परिभाषा में अपने आपको अव्याप्ति दोष से बचाने का सफल प्रयास किया है किन्तु वे भी काव्य के अन्तस्तत्त्व तक पहुँचने मे सफल नहीं हो पाये । हाँ ! वहाँ तक पहुँचने का उपक्रम अवश्य है । वास्तविकता तो यह है कि वामन चाहते हुए भी तात्कालिक परिवेश के कारण अलंकारवाद का सशक्त परिहार और गुणों का स्पष्ट मण्डन नहीं कर पाये और इस प्रकार अपने मन्तव्य में अस्पष्ट रह गये ।

---

1. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्—भामह काव्यालंकार ।
2. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते—दण्डी काव्यादर्श ।
3. डॉ० नगेन्द्र, रीति सिद्धान्त (भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका) पृष्ठ 8 पर उद्धृत ।

उदाहरणार्थ, वामन ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है कि 'गुणों तथा अलंकारों से भूषित शब्द और अर्थ के लिए काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है।'[1] उक्त परिभाषा अव्याप्ति दोष से तो मुक्त हो गयी किन्तु गुण और अलंकार को समान स्तर प्रदान कर उन्होंने पहली गलती की और थोड़ी ही देर में वे अलकार को गुण से श्रेष्ठ मानने की त्रुटि कर बैठे। जब वे कहते हैं कि 'काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है।'[2] इसका तात्पर्य यह हुआ कि काव्य मे गुणों का समावेश होते हुए भी यदि उसमें अलंकार नही है तो वह ग्राह्य नही होगा। इससे स्वतः ही अलंकार की प्रधानता सिद्ध हो जाती है। कुछ स्थलों पर ये विरोधाभास से ग्रस्त दिखाई देते हैं। एक ओर तो ये स्पष्ट कह देते है कि अलंकार ही सौन्दर्य है और साथ ही यह भी कहते हैं कि सौन्दर्य का काव्य मे समावेश दोषों के बहिष्कार और गुण तथा अलंकार के आदान से होता है। यहाँ पर यह स्पष्ट नही है कि 'सौन्दर्य' अलंकार का ही नाम है अथवा गुण और अलंकार दोनो की समष्टि का है। आगे चल कर यद्यपि इन्होंने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है किन्तु वहाँ ये शोभा, सौन्दर्य और 'धर्म' शब्दों के प्रयोग में उलझ कर रह गये। यह स्पष्ट नही हो पाया कि वामन 'काव्यशोभा' और 'काव्यसौन्दर्य' शब्दो को समानार्थक मान कर चलते हैं अथवा भिन्नार्थक और यदि भिन्नार्थक है तो दोनो शब्दो के अर्थों मे क्या और कितना अन्तर है? 'सौन्दर्यमलकारः' कहने वाला आचार्य जब यह कहता है कि 'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।' तब स्थिति अत्यन्त अस्पष्ट हो जाती है। वस्तुत वामन रीति-सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के कारण अलंकारों का पल्ला छोडने मे पूर्णतः सफल नही हो पाये। एक ओर वे कहते है कि 'काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है' तो दूसरी ओर यह कह डालते है कि 'अलंकार तो काव्यशोभा के अनित्य धर्म है। केवल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं परन्तु केवल अलंकार नही।' इस अवसर पर 'सौन्दर्यमलंकारः' का क्या हुआ? कुछ नही कह सकते। डॉ० नगेन्द्र ने वामन के विचारो का अध्ययन कर उन्हें समेकित रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है:—गुणो से अनिवार्यतः और अलकारों से साधारणतः युक्त तथा दोष से रहित शब्द अर्थ का नाम काव्य है।[3] डॉ० नगेन्द्र को सम्भवतः 'मम्मट' के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह खींच-तान करनी पडी है अन्यथा वामन स्वयं इसमें स्पष्ट प्रतीत नही होता है। क्या ही अच्छा होता कि वामन 'गुणों' को प्रधानता देकर रीति को उसका अंग मान कर चलता किन्तु 'वामन' ने इसके विपरीत आचरण किया और यही कारण है कि उसका

---

1. काव्यशब्दोऽयं गुणालकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते:—वामन, काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिः
2. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः 2/1/1
3. डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 5

सिद्धान्त आगे चल कर वह महत्त्व प्राप्त नहीं कर पाया जो उसे करना चाहिए था। आगे चल कर कुन्तक ने इस त्रुटि को चिह्नित किया और पूर्ववर्ती कलावादी आचार्यों द्वारा प्रदत्त परिभाषा को अधिक सटीक बनाने का प्रयास किया।

कुन्तक वक्रोक्तिवाद सम्प्रदाय के प्रणेता माने जाते हैं। लेकिन कुन्तक की वक्रोक्ति भामह के वक्रोक्ति अलंकार से अधिक विस्तृत सीमारेखा वाली है। अतः इन्होंने वक्रोक्ति को ही काव्य का मूल बताया और काव्य की इस प्रकार परिभाषा की.—'वक्रोक्ति युक्त पदरचना में सहभाव से व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है। वह वक्रोक्ति सामाजिकों को आह्लादित करती है'।[1] इस परिभाषा में भामह, दण्डी और वामन द्वारा व्यक्त परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल इतना कि कुन्तक ने वक्रोक्ति को परिभाषा में ही गुम्फित कर दिया और फिर समस्त ग्रन्थ में कहीं पर भी विरोधाभास दृष्टिगत नहीं होने दिया। अब रहा प्रश्न यह कि वह अपनी परिभाषा में कहाँ तक सफल रहा और काव्य के मूल तत्त्व तक पहुँच पाया अथवा नहीं। वस्तुत. कुन्तक की दृष्टि भी भामह और दण्डी की तरह काव्य के बाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित रही और वे काव्य की मूल तह तक नहीं पहुँच पायी। यद्यपि कुन्तक ने 'रस' को वक्रोक्ति के एक अंग के रूप में वर्णित किया है तदपि प्रधानता उक्ति-चमत्कार की ही बताई है।

इनके पश्चात् ध्वनिवादी आचार्यों का युग आता है और कट्टर ध्वनिवादी आचार्य मम्मट भी, जहाँ तक काव्य परिभाषा का प्रश्न है, इन आचार्यों के विचार से आगे नहीं बढ़ पाये। आचार्य मम्मट ने वस्तुतः भामह, दण्डी और वामन के विचारों को संकलित भर कर दिया है। आपके अनुसार 'दोष रहित तथा गुण युक्त शब्द और अर्थ का सामजस्य ही काव्य है। उसमें अलंकारों का होना आवश्यक नहीं है।[2] अर्थात् काव्य में दोषों का अभाव और गुणों का योग अनिवार्य है तथा साधारणतः अलंकार भी हो सकते हैं किन्तु अलंकारों की काव्य में अनिवार्यता नहीं है। अलंकारवादियों द्वारा इस परिभाषा का प्रबल विरोध किया गया। जयदेव ने तो यहाँ तक कह दिया कि जो लोग अलंकार रहित शब्दार्थ को काव्य मानते हैं, वे अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते।[3] वैसे मम्मट की परिभाषा में 'शब्दार्थ' भामह की देन है तो 'गुण' युक्तता और 'दोषाभाव' का विचार वामन से लिया गया है। हाँ! इतना अवश्य किया है कि काव्य में अलंकार की महत्ता का शंखनाद इससे मन्द पड़ने की सम्भावना का श्रीगणेश हुआ।

---

1. शब्दार्थौ सहितौ वक्र कविव्यापारशालिनि। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणि॥ कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्;
2. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। मम्मट, काव्य-प्रकाश—
3. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती। जयदेव, चन्द्रालोक—

इन कलावादी या चमत्कारवादी आचार्यों के पश्चात् आत्मवादी आचार्यों का युग आता है। यद्यपि आत्मवादी विचारधारा की आधारशिला का न्यास भरतमुनि कर चुके थे किन्तु अलंकारवादी आचार्यों के प्रादुर्भाव के कारण उसकी गति मन्द पड़ गयी थी। भरतमुनि के पश्चात् सर्वप्रथम अग्निपुराणकार ने रस की महत्ता की ओर शिथिल संकेत किया है किन्तु वे भी दोहरी बातें करते प्रतीत होते हैं। एक ओर वे अलंकार रहित सरस्वती को विधवा की संज्ञा प्रदान करते हैं[1] तो दूसरी ओर वाणी की विदग्धता की प्रधानता रहने पर भी रस को काव्य की आत्मा कहते हैं।[2] अग्निपुराणकार के सामने दो विकल्प थे—(1) वाणी की विदग्धता अर्थात् उक्ति चमत्कार और (2) रस। ये रस की सत्ता और महत्ता तो स्वीकार करते हैं किन्तु प्रधानता उक्ति चमत्कार को ही देते हैं। इस प्रसङ्ग में सर्वाधिक सराहनीय कार्य आचार्य विश्वनाथ का रहा है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने लोकविश्रुत ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में रस की स्वतन्त्र सत्ता का उद्घोष किया। सर्वप्रथम भरतमुनि ने जिस प्रासाद की आधारशिला रखी थी, उसे एक भव्य राज-प्रासाद के रूप में सम्पन्न किया। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि 'रस-पूर्ण वाक्य'[3] ही काव्य है। इसके साथ ही 'रस' की मार्मिक एवं सर्वाङ्ग व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा :—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः॥
लोकोत्तर-चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[4]

अर्थात्, सत्त्वगुण के उद्रेक होने पर सहृदय सामाजिक, अखण्डस्वरूप, अपने प्रकाश से ही आनन्द देने वाले, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त ब्रह्मानन्द सहोदर, अलौकिक चमत्कार ही जिसका प्राण है, ऐसे रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः रस का आस्वादन करते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने रस की ऐसी सांगोपाङ्ग व्याख्या प्रस्तुत की कि पूर्ववर्ती सभी सम्प्रदाय निरस्त हो गये। आपके पश्चात् आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने अभूतपूर्व ग्रन्थ 'रस गंगाधर' में रस को सौन्दर्य का प्रतीक मान कर प्रत्यक्ष रूप में रस का उल्लेख न कर उसके स्थान पर 'रमणीय' शब्द का प्रयोग कर उसे (परिभाषा को) अधिक निर्दोष बनाने का

---

1. अलंकार रहिता विधवेव सरस्वती, अग्निपुराण—
2. वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्, वही
3. वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्, विश्वनाथ, साहित्य दर्पण;
4. वही

प्रयत्न किया है। आपके अनुसार रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। अपनी परिभाषा को प्रस्तुत करते समय पण्डितराज ने विश्वनाथ की परिभाषा पर यह आक्षेप किया है कि विश्वनाथ की परिभाषा को पढ़कर कवि लोग बिल्ला उठेंगे कि उनकी कविता उक्त परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आ पाएगी। दूसरे, विश्वनाथ की परिभाषा पर यह आक्षेप भी लगाया जाता है कि उनकी परिभाषा के अन्तर्गत आगत 'रस' शब्द व्याख्या-सापेक्ष है। उक्त दोनों आरोप निराधार एवं व्यर्थ हैं। जहाँ तक पहले आरोप का सम्बन्ध है, 'रस' के साथ-साथ अन्य चमत्कारमूलक तत्त्व रस के पोषक तत्त्वों के रूप में विद्यमान रहते हैं, जैसा कि मम्मट और विश्वनाथ दोनों ने स्पष्ट किया है। मम्मट ने कहा है कि जिस तरह शौर्यादि आत्मा के गुण हैं, उसी प्रकार काव्य में अंगी रूप रस के स्थायी धर्म गुण हैं और वे रस के उत्कर्ष के कारण होते हैं।[1] विश्वनाथ ने इस विचार को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—गुण रस के उसी प्रकार उत्कर्ष हेतु हैं, जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के तथा अलंकार शब्दार्थ के उसी प्रकार शोभाकारक अस्थायी धर्म हैं, जिस प्रकार कवच, कुण्डलादि आभूषण शरीर के।[2] इसी प्रकार अन्य चमत्कारमूलक तत्त्वों के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। इसके साथ-साथ स्वयं विश्वनाथ ने रस को लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा है। अतः उक्त परिभाषा में चमत्कार या उक्ति विलक्षणता का अभाव बताना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक दूसरे आरोप का सम्बन्ध है, वह भी पूर्णतः निर्मूल है। परिभाषा या लक्षण किसी विधा का रूप विधायक तत्त्व होता है, जिसे संक्षेप में किन्तु पूर्णता से व्यक्त किया जाता है। फलतः परिभाषा में अनेक ऐसे सूक्ष्मार्थक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है, जो व्याख्या-सापेक्ष होते हैं। वामन का 'गुण' शब्द, कुन्तक का 'वक्रकविव्यापारशालिनि' शब्द और स्वयं पण्डितराज का 'रमणीय' शब्द व्याख्या-सापेक्ष है। किसी भी विधा की परिभाषित करने वाले मनीषी लोग इस तथ्य से परिचित रहते हैं और वे उनका विस्तार से विवेचन भी प्रस्तुत करते हैं। उपरिकथित समस्त आचार्यों ने उक्त शब्दों की सविस्तार व्याख्याएँ प्रस्तुत की भी हैं।

विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् आने वाले सभी आचार्यों ने एक स्वर से काव्य में रस की महत्ता को स्वीकार किया। हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन आचार्यों का अपना स्वतन्त्र मन्तव्य नगण्य-सा रहा है, फिर भी केशव जैसे

---

1 ये रसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः। मम्मट, काव्य प्रकाश—

2 रसस्यांगित्वमाप्तस्यात्मनः उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुण शब्द वाच्याः और, शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ विश्वनाथ, साहित्य दर्पण—

आचार्यों को अलंकारवादी और भिखारीदास जैसे आचार्यों को वक्रोक्तिवादी कहा जा सकता है। रीति काल के सभी आचार्यों ने संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादमात्र प्रस्तुत किये हैं और उन्हीं के आधार पर काव्य-परीक्षण करने का प्रयास भी किया गया है। यह उन लोगों की रुचि या विचारधारा का द्योतक भी हो सकता है और एक संयोग भी, क्योंकि उन ग्रन्थों के अवलोकन से कहीं पर भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उसमें उनका भी कोई स्वतन्त्र चिन्तन या अभिमत प्रकट हुआ है। आधुनिक काल में आकर पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र से हमारा सम्पर्क होता है और आलोचना-शास्त्र पुनः करवट लेकर जाग उठता है। एक ओर जहाँ हमने पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में काव्यालोचन प्रारम्भ किया, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र का स्वतन्त्र विश्लेषण और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन के सन्दर्भ में चिन्तन-मनन प्रारम्भ हुआ। भारतीय पद्धति को महत्त्व देने वालों में श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र आदि प्रमुख हैं तो डॉ०श्यामसुन्दर शर्मा, डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि को मिश्रित प्रवृत्ति वाले आचार्यों की श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है।

आचार्य शुक्ल ने कविता पर विचार करते हुए भावपक्ष को प्रधानता दी है। आपके अनुसार कविता की परिभाषा इस प्रकार है—जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्म-योग और ज्ञानयोग के समकक्ष कहते हैं।[1] इस परिभाषा में भी 'हृदय की मुक्तावस्था' शब्द व्याख्या-सापेक्ष है। आचार्य शुक्ल ने स्वयं इसे इस प्रकार व्याख्यायित किया है—'जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किये, इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है, तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर अपने आपको बिल्कुल भूल कर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है।'[2] आचार्य शुक्ल को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि हृदय की मुक्तावस्था में पहुंचने पर व्यक्ति की कैसी अवस्था हो जाती है, उस अवस्था का उस पर कैसा प्रभाव पड़ता है—'इस भूमि पर पहुंचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किये रहता है''''इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनो-

1. आचार्य शुक्ल, चिन्तामणि, भाग 1 पृष्ठ 192–193
2. वही पृष्ठ 192

विकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।[1] उपरिकथित उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल काव्य में रागात्मकता को महत्त्व देते हैं तथा रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं। साथ ही वे काव्य को भाव जगत् और बाह्य जगत् के सामंजस्य के रूप में देखते हैं। मानव हृदय स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित धरातल पर विचरण करता है और कविता उसे उठा कर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जिसे मम्मट 'यह न मेरा है, न पराया है और न तटस्थ का है' कह कर व्यक्त करते हैं।

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी प्राचीनतावादी होते हुए भी इस प्रसङ्ग में पाश्चात्य जगत् से प्रभावित जान पड़ते हैं। आपके अनुसार कविता में सादगी, असलियत और जोश, ये तीनों गुण हों तो कहना ही क्या है""कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।[2] एक स्थान पर आप चमत्कार पर बल देते प्रतीत होते हैं, यथा—शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं–विलक्षणता नहीं–तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।[3] एक अन्य स्थल पर वे काव्य में रस की महत्ता पर बल देते हैं। पहली परिभाषा में आप मिल्टन से प्रभावित हैं तो दूसरे स्थल पर वे क्षेमेन्द्र का दामन सम्हाले हुए हैं तो तीसरे स्थल पर वे रसवादी आचार्यों की श्रेणी में खड़े दिखाई देते हैं।[4] यदि द्विवेदीजी की समग्र विचारधारा का अवलोकन सूक्ष्मता से किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे कविता में 'सत्य' के सर्वाधिक समर्थक हैं जिसे वे असलियत के नाम से व्यक्त करते हैं। उनके युग की समस्त काव्य-रचना उनके इसी सिद्धान्त पर टिकी हुई है। फलतः तद्युगीन कविता इतिवृत्तात्मक अधिक और रागात्मक कम है।

स्व० जयशंकर प्रसाद ने भी अपने निबन्ध संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' ग्रन्थ में कविता पर विचार किया है। प्रसादजी मूलत. कवि थे, आचार्य नहीं। फलतः कविता की परिभाषा करते समय उनकी दृष्टि पाठक की अपेक्षा कवि पर अधिक रही है, फिर भी पाठक उससे अस्पृष्ट नहीं रह पाता क्योंकि काव्य की पूर्णता उसके पाठकों में है अन्यथा वह एकाङ्गी रह जाता है। 'वन में मोर नाचा किसने जाना' के अनुसार मयूर के नृत्य की सफलता दर्शकों के अवलोकन पर निर्भर करती है। 'स्वान्त.सुखाय' की पूर्णता भी इस बात पर निर्भर करती है कि वह 'परान्तः सुखाय' हो जाए। तुलसी का रामचरितमानस 'स्वान्त सुखाय' होने पर भी

---

1. वही, पृष्ठ 192.
2. महावीरप्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रञ्जन, पृष्ठ 5.
3. वही, पृष्ठ 26.
4. वही, पृष्ठ 26.

उसकी महत्ता 'परान्तः सुखाय' में अधिक है। फिर यह भी तथ्य है कि कवि का स्वान्तः मूलतः परान्तः या लोकान्तः ही होता है, अन्यथा वह उच्चकोटि की कविता का प्रणेता नहीं हो सकता। हम पाश्चात्य कलावादियों के इस तर्क को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि कवि की अभिव्यञ्जना जब सफल हो जाती है, तब उसे समाज से क्या लेना देना। सफल अभिव्यक्ति ही कवि का चरम लक्ष्य है। प्रसादजी की परिभाषा में ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि प्रसादजी की परिभाषा 'सत्य' को स्वीकार करके चलती है। प्रसादजी के अनुसार 'काव्य' आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।[1] इस परिभाषा में प्रसादजी के तीन शब्द द्रष्टव्य हैं—(1) संकल्पात्मक अनुभूति, (2) श्रेयमयी और (3) प्रेय। 'संकल्पात्मक अनुभूति' की व्याख्या स्वयं प्रसादजी ने कर दी है। इसी व्याख्या में 'श्रेय' को 'सत्य' और 'प्रेय' को सौन्दर्य कहा है। अर्थात् सत्य को सुन्दर बना कर काव्य की रचना की जाती है। यह दोनों का समन्वय नहीं है, बल्कि प्रसादजी के अनुसार सत्य के मूल में सौन्दर्य स्वतः विद्यमान रहता है। आवश्यकता है उसे ग्रहण करने की। उसका ग्रहण आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति करती है। कवि उस चारुत्व को ग्रहण कर उसकी अभिव्यक्ति करता है और पाठक उसका ग्रहण कर आस्वादन करता है। अतः यह कहना कि उक्त परिभाषा में 'पाठक और अभिव्यक्ति' को गौण रखा गया है, उचित नहीं है। वस्तुतः प्रसादजी की 'संकल्पात्मक अनुभूति' सहृदय सामाजिक का ही अमूर्त रूप है। सामाजिक भी सहृदय अपनी संकल्पात्मक अनुभूति के बल पर ही होता है, अन्यथा सामान्य अर्थ में तो हृदय सभी के होता है किन्तु पारिभाषिक अर्थ में उन्हें 'सहृदय' नहीं कहा जा सकता। अतः स्पष्ट है कि प्रसादजी भी कविता में शुक्लजी की तरह रागात्मकता को ही प्रधानता देते हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का समन्वय करते हुए श्री गुलाबराय का कथन है कि 'काव्य' संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान (किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओं की, कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय की प्रेय रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। इस परिभाषा में श्री गुलाबराय ने यद्यपि उन सभी तत्त्वों का समावेश करने का प्रयत्न किया है, जिन्हें किसी न किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने किसी न किसी रूप में ग्रहण किया है, तथापि उन तत्त्वों का भली-भाँति संगुम्फन भाषा में नहीं हो पाया। दूसरे, जहाँ तक मैं समझता हूं, मानसिक प्रतिक्रियाएँ तो होती ही भाव-प्रधान है। अतः उनके साथ 'भाव-प्रधान' शब्द का प्रयोग अनावश्यक-सा प्रतीत होता है।

यदि इसी प्रसङ्ग में पाश्चात्य मनीषियों के विचारों का भी विश्लेषण कर

1. स्व० जयशंकर प्रसाद, काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ 38

लिया जाए तो अप्रासङ्गिक नही होगा। सर्वप्रथम हम मिल्टन को लेते हैं। उन्होंने 'शिक्षा पर निबन्ध' (Essay on Education) ग्रन्थ में लिखा है कि 'कविता सहज, संवेदनात्मक एवं रागात्मक होनी चाहिए'—Poetry should be simple, sensuous and passionate. मिल्टन ने इस परिभाषा मे मम्मट के, 'अनलंकृती' और भरत के रागतत्त्व को महत्त्व दिया है। भरत ने 'सुग-बोध्य' शब्द का प्रयोग किया है, जिसे मिल्टन 'सिम्पल' शब्द के द्वारा व्यक्त करता है। आगे चल कर हम देखते हैं कि कॉलरिज भामह और दण्डी का अनुकरण करता दिखाई देता है, जब वह कहता है कि 'कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है।' अन्तर केवल इतना है कि 'भामह और दण्डी' 'अर्थ' की उपेक्षा नही करते, जबकि कॉलरिज की दृष्टि केवल पद-विधान पर ही केन्द्रित प्रतीत होती है, जिससे लगता है कि कॉलरिज कविता में शब्द-चमत्कार को प्रधानता देते हैं।

आगे चल कर कारलायल कविता मे 'संगीतमयता' को प्रमुख तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। आपके अनुसार कविता एक संगीतमय विचार है—Poetry we will call musical thought. लेकिन कॉलरिज 'संगीतमय विचार' शब्द का पारिभाषिक अर्थ मे प्रयोग करते हैं, जिसे स्पष्ट करते हुए आप लिखते हैं कि 'संगीतमय विचार उस मन का होता है, जिसने वस्तुओं के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर उनके अन्तस्तल के रहस्य को जान लिया है।' वस्तुतः संगीत मानव भावनाओं का व्यञ्जक तत्त्व होता है, जिसकी धुन में लीन होकर मानव-मन कुछ क्षणों के लिए आत्मविभोर हो जाता है। संगीत कविता का पोषक तत्त्व तो हो सकता है किन्तु कविता का आत्मतत्त्व नही हो सकता। दूसरा शब्द है 'थोट' जो मूलतः बुद्धि का विषय होता है किन्तु आंग्ल भाषा के विचारक इसका प्रयोग 'भाव' अर्थ मे भी करते देखे जाते हैं, जैसा कि कीट्स लिखता है—

'Our sweetest songs are those, who tell us sadest thought'

अतः स्पष्ट है कि 'म्यूजिकल थोट' से कॉलरिज का अभिप्राय प्रसाद की संकल्पात्मक अनुभूति या संवेदनशीलता से ही है। व्यक्ति जितना अधिक संवेदनशील होगा, उतना ही अधिक संगीतमय भी। इस प्रकार कॉलरिज रागात्मक तत्त्व को भी अपने में समेट लेते हैं।

प्रसिद्ध रोमाण्टिक कवि वर्ड्सवर्थ कविता को 'शान्ति के क्षणों में स्मरण की गयी तीव्र अनुभूतियों का स्वतः स्फूर्त उत्प्रवाह मानते हैं जिनका मूल उत्स भाव जगत् है।' इस परिभाषा से पूर्णतया स्पष्ट है कि वर्ड्सवर्थ पर्याप्त सीमा तक भारतीय आत्मवादी आचार्यों की श्रेणी में आ जाते हैं, जो कविता मे कला पक्ष की तुलना मे भाव पक्ष को महत्त्व देकर चलते हैं। 'दर्द को दिल में जगह दे अकबर' कह कर एक उर्दू शायर भी अप्रत्यक्ष रूप मे इसकी पुष्टि करता है। वर्ड्सवर्थ का 'शान्त क्षण' और

युद्ध नहीं है, बल्कि आचार्य शुक्ल की 'हृदय की मुक्तावस्था' का ही प्रतिनिधित्व करता है।

आंग्ल भाषा के प्रसिद्ध आचार्य मैथ्यू आर्नल्ड और हडसन कविता के 'सत्य' पक्ष पर अधिक बल देते हुए दिखाई देते हैं। आप लोगों के अनुसार कविता मूलतः जीवन की व्याख्या है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी कविता के इस पक्ष के प्रबल समर्थक हैं। मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार 'कविता मूलतः जीवन की व्याख्या या आलोचना है—Poetry is at bottom a criticism of life.' इसे अधिक सशक्त एवं भावात्मक बनाते हुए हडसन ने कविता को 'कल्पना एवं भाव के माध्यम से जीवन की व्याख्या' कहा है। इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि हडसन ने वस्तुतः अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों के विचारों को एक कड़ी में पिरो कर रख दिया है—Poetry is interpretation of life through imagination and emotion. श्री गुलाबराय को इस परिभाषा में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के अकथन का अभाव खटका है किन्तु मैं समझता हूं कि हडसन का 'इन्टरप्रेटेशन' शब्द अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को ही व्यक्त करता है, क्योंकि 'इन्टरप्रेटेशन' जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति का ही परिचायक है। जॉनसन ने कविता की व्याख्या (लक्षण नहीं कह सकते) में तीन तत्त्वों–राग, बुद्धि और कल्पना—का समावेश किया है। आपके अनुसार 'कविता सत्य और आनन्द के सम्मिश्रण की कला है, जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है—Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason.'

अन्त में, पाश्चात्य विद्वानों की उपरिकथित परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय मनीषियों की तरह पाश्चात्य आचार्य भी अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार कविता के भाव पक्ष या कला पक्ष पर बल देते रहे हैं किन्तु पाश्चात्य मनीषी 'रस' जैसे सर्वाङ्गपूर्ण तत्त्व का अनुसंधान करने में असफल रहे हैं। मनोविज्ञान को आधार मान कर चलने वाले ये विद्वान् न तो 'रस' जैसे तत्त्व की खोज ही कर पाये और न ही इसे ग्रहण कर पाये। ये लोग 'आनन्द' की बात तो सदैव करते रहे किन्तु आनन्द क्या है? कविता में वह क्या तत्त्व है, जो आनन्द प्रदाता है, को न तो स्पष्ट कर पाए और न ही वहाँ तक पहुंचने का प्रयास ही किया गया। वस्तुतः अधिकतर पाश्चात्य मनीषियों की दृष्टि चमत्कारवाद से आगे नहीं जा पायी। फलतः उन्होंने अभिव्यक्ति पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया। प्रश्न महत्त्व का है, कथन का नहीं। प्रारम्भिक युग में यद्यपि भाव-प्रवणता के विचार की प्रधानता रही है, तथापि वहाँ पर कल्पना सदैव भाव पर हावी रही है। रोमाण्टिक युग में तो 'कल्पना' काव्य का सर्वस्व बन बैठी। तत्पश्चात् 'क्रोचे' के अभिव्यञ्जनावाद दुंदुभि बजती रही। इसके विपरीत, भारतीय मनीषियों ने गहरे से गहरे में

कितने ही महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को खोज निकाला और उन तत्त्वों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन कर उनकी महत्ता और स्थान का निर्धारण किया और अन्त में 'रस' जैसे मुक्तामणि को खोज निकाला। रस की मनोवैज्ञानिक एवं शास्त्रीय व्याख्याएँ प्रस्तुत कर उसके स्वरूप का निर्धारण किया गया। अतः स्पष्ट है कि काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भारत अग्रणी रहा है।

अन्त में उपर्युक्त भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं का अवलोकन एवं चिन्तन कर कविता की समन्वित परिभाषा इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है—काव्य शब्दार्थ का ऐसा साहित्य है, जो सहृदय सामाजिक को भावलोक में पहुँचा देता है, जहाँ मानव-मन अपनी उन्मुक्त अवस्था में विचरण करता है। भावलोक से तात्पर्य सामान्य भाव-भूमि से है और उन्मुक्त अवस्था से तात्पर्य राग-द्वेषादि से रहित और सांसारिक बन्धनों से मुक्ति। सामान्य भाव-भूमि वह भूमि है, जहाँ व्यष्टि समष्टि में लीन हो जाती है और 'अपने-पराये' का भाव शेष नहीं रह जाता। उस भावभूमि में पहुँचा कर कविता मन को उन्मुक्तावस्था कैसे प्रदान करती है—इस पर विचार करना कविता की व्याख्या होगी, परिभाषा या लक्षण नहीं। राग, बुद्धि, कल्पना, अभिव्यक्ति आदि तो कविता के अंगउपाङ्ग हैं। अतः परिभाषा में कविता को समग्र रूप में देख कर उसके कृत्य को निर्धारित करना होता है, जिसके कारण वह परिभाषा का विषय बनी।

काव्य का प्रयोजन

'प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् मूर्ख व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के कोई कार्य सम्पादित नहीं करता फिर 'काव्यत्वं दुर्लभं लोके' जैसी विधा का प्रणयन तो निरुद्देश्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः स्पष्ट है कि काव्य-रचना के पीछे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहता है। भारतीय मनीषियों ने प्रारम्भिक युग से इस विषय पर विचार-विमर्श प्रारम्भ कर दिया था। जैसा कि हम कह चुके हैं, काव्य की सांगोपांग व्याख्या का कार्य भारत में भरतमुनि से प्रारम्भ हुआ और स्वयं भरतमुनि ने इस विषय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इससे पूर्व कि हम प्रमुख आचार्यों के एतत्सम्बन्धी मतों पर विचार करें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम इस विषय की भूमिका तैयार कर लें।

जब काव्य शब्द या रूप हमारे सामने आता है तो मानव मन की जिज्ञासा प्रवृत्ति यह जानने के लिए लालायित हो उठती है कि—(1) कवि काव्य की रचना क्यों करता है, और (2) पाठक काव्य क्यों पढ़ता है? उक्त दोनों प्रश्न काव्य के प्रयोजन को दो वर्गों में विभाजित कर देते हैं—(1) रचनाकार की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन और (2) सहृदय सामाजिक की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो 'भावानुभूति की अभिव्यक्ति' ही रचनाकार की दृष्टि से काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन है और तीव्र अनुभूतियों का परिष्कार, विरेचन या उनसे एकाकार

हो जाने की प्रवृत्ति ही पाठक, श्रोता और दर्शक की दृष्टि से काव्य का मूलभूत प्रयोजन है। दोनो के मूल में 'भाव' क्रिया ही विशेष रहती है। 'आनन्द' की प्राप्ति तो यदि गहराई से देखा जाये तो उक्त क्रियाओं का परिणाम है, जिसकी अनुभूति रचनाकार और सहृदय सामाजिक को अन्त मे होती है। यदि 'प्रयोजन' शब्द की हम व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि 'प्रयोजन' से क्या तात्पर्य है? वस्तुतः 'प्र' उपसर्ग के योग में युज् (जोडना) धातु के साथ 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय लगा कर 'प्रयोजन' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है 'प्रकृष्ट योजना' अर्थात् महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के लिए की गयी व्यवस्था। इसे यों भी स्पष्ट किया जा सकता है कि किसी कार्य के निष्पादन से पूर्व निर्धारित किये गये मत या जुटाये गये ससाधन। इससे प्रयोजन कार्य का पूर्ववर्ती ठहरता है और कार्य परवर्ती। काव्य के सन्दर्भ मे घनीभूत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति काव्य-रचना का पूर्ववर्ती तथ्य है। अतः यह काव्य-रचना का मूलभूत प्रयोजन है। अभिव्यक्ति के समय प्राप्त होने वाला आनन्द काव्य का दूसरा प्रयोजन या अभिव्यक्ति का परिणाम है। शेष प्रयोजन गौण प्रयोजन कहे जा सकते है।

भरतमुनि के अनुसार—'यह नाट्य (काव्य से तात्पर्य) धर्म, यश, आयु, हित और बुद्धि का अभिवर्धक और लोकोपदेश का उत्पादक होगा।'

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

भरतमुनि का पहला प्रयोजन 'धर्म' है अर्थात् 'कर्त्तव्य बुद्धि' यथा—'मैं समाज में उत्पन्न हुआ हूँ। अतः समाज के प्रति भी मेरा कोई कर्त्तव्य है।' फलतः रचनाकार ऐसे काव्य की रचना मे दत्तचित्त होता है, जो समाज को सन्मार्ग पर अग्रेसर करने में सक्षम हो सके क्योंकि काव्य मूलतः समाज-सापेक्ष विधा है और उसकी पूर्णता या सफलता समाज द्वारा उसे स्वीकार कर लेने में निहित है। फिर यह भी निश्चित है कि वह रचना, जिसे समाज ने स्वीकार कर लिया है, कवि के लिए यश प्रदात्री भी होगी। फलतः रचनाकार की दृष्टि से काव्य रचना के ये दोनो प्रयोजन समुचित एव मौलिक कहे जा सकते हैं। सामाजिक दृष्टि से भी इन प्रयोजनों का अपना मूल्य है। रचनाकार जिस सत्पन्थ का निर्माण अपनी रचना में करता है, उस पर चलने के लिए तत्परता सामाजिक की कर्त्तव्य बुद्धि या धर्म की परिचायिका है और सत्पन्थ पर चलने से समाज में उसकी ख्याति होगी और सत्पन्थ का ज्ञान उसे काव्य से होगा। इसीलिए वह काव्यसेवन करता है। इस पर एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि सन्मार्ग का ज्ञान तो धर्मशास्त्रों से भी हो सकता है, फिर काव्य का सेवन क्यों? कुन्तक ने इस प्रश्न का बड़ा अच्छा उत्तर दिया है। कुन्तक के अनुसार 'धर्मशास्त्रों का अनुशीलन श्रमसाध्य है क्योंकि वे बोलने में कठिन, सुनने में कटु और समझने,

दुरूह होते हैं। शास्त्र तो अनेक दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुःखदायी होते हैं। उसके विपरीत काव्य की विधि उतनी ही सुकुमार होती है। कुन्तक की मूल कारिका इस प्रकार है —

धर्मादि साधनोपाय: सुकुमार क्रमोदित: ।
काव्यबन्धोऽभिजाताना हृदयाह्लादकारक: ॥

इस कारिका की स्वरचितवृत्ति में कुन्तक ने उक्त विचारों को प्रकट किया है।

भरत का तीसरे प्रयोजन 'आयुष्य' में क्या मन्तव्य है, स्पष्ट नहीं होता कि काव्यानुशीलन में आयुवृद्धि कैसे होती है। इस प्रसङ्ग में यही कहा जा सकता है कि काव्यानुशीलन या सर्जन में प्राप्त 'आनन्द' ही आयुवर्धक होता है। अस्पष्टता और सटीकता के अभाव के कारण ही सम्भवत परवर्ती आचार्यों ने इस प्रयोजन का उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया। चौथा और पाँचवाँ प्रयोजन रचनाकार और पाठक दोनों पर लागू होता है। काव्यानुशीलन और उसकी रचना, बुद्धि में परिष्कार और अभिवर्धन लाते हैं। जहाँ तक 'लोकोपदेश' का सम्बन्ध है, एक प्रदाता है और दूसरा ग्रहीता।

भरतमुनि के पश्चात् भामह ने भी अपने ग्रन्थ में काव्य के प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है। भामह ने भरत के आयुष्य का परित्याग कर दिया और 'प्रीति' नाम के नये प्रयोजन का उल्लेख किया है। शेष दोनों आचार्यों के प्रयोजनोल्लेख में कोई तात्त्विक अन्तर प्रतीत नहीं होता। हाँ! शाब्दिक अन्तर अवश्य है। भरत ने 'नाट्य' शब्द का प्रयोग किया है, उसके स्थान पर भामह ने 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवत भरत के युग में 'काव्य' के लिए 'नाट्य' शब्द का ही प्रयोग किया जाता रहा हो, न कि काव्य की एक विधा के रूप में। भरत का 'धर्म्य' भामह के धर्म में विद्यमान है। भरत ने 'यशस्य' शब्द का प्रयोग किया है तो भामह ने 'कीर्ति' का, जो प्राय: समानार्थक है। भरत का 'लोकोपदेश जननं' का भामह के अर्थ, काम में समावेश किया जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र ने चारों वर्गों को ही इसमें समाहित किया है किन्तु मेरी दृष्टि से 'मोक्ष' को एक पृथक् प्रयोजन माना जाना चाहिए जो आचार्य शुक्ल की 'हृदय की मुक्तावस्था' का द्योतक है। भामह का 'वैचक्षण्य कलासु' भरत के 'बुद्धि विवर्धन' का ही पर्याय प्रतीत होता है। निष्कर्षत भामह के काव्य-प्रयोजन इस प्रकार है —(1) धर्म, (2) अर्थ, (3) काम, (4) मोक्ष, (5) कलाओं में दक्षता, (6) कीर्ति और (7) प्रीति। भामह का अभिमत इस प्रकार है —

धर्मार्थकाम मोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम् ॥

भामह के पश्चात् आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में प्रश्नोत्तर के साथ काव्य के प्रयोजनों पर विचार किया है। आपने पूर्ववर्ती आचार्यों भरत एवं भामह की संख्या को कम करते हुए काव्य को केवल दो प्रयोजनों तक सीमित कर दिया। वामन वस्तुतः इस विषय में मध्यम स्तरीय ही रहे। ये न तो भामह की तरह 'मोक्ष' तक पहुँच पाये और न ही उन्होंने लोक-व्यवहार या लोकोपदेश के स्तर को ही ग्रहण किया। अतः कहा जा सकता है कि वामन का दृष्टिकोण विशुद्ध शास्त्रीय ही रहा है, न तो वे दार्शनिक या तात्त्विक दृष्टिकोण [illegible] और न ही व्यावहारिक या लौकिक ही। वस्तुतः ये प्रत्यक्ष मूलक आचार्य ही रहे। इसीलिये उन्होंने भामह के केवल अन्तिम दो प्रयोजनों को ही स्वीकार किया :—

'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीति कीर्ति हेतुत्वात्।' इनमें भी वामन [illegible] अधिक महत्त्व देते हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने 'कीर्ति' को [illegible] पर्यन्त रहने वाली निधि बताया है। वामन इस दृष्टि से [illegible] क्योंकि 'यश एषणा' मानव की सबसे बड़ी 'एषणा' है। [illegible] इसकी स्पष्ट घोषणा की है कि 'यश मनुष्य का अन्तिम [illegible] the last resolt) उपनिषदों, आरण्यकों आदि प्राचीन [illegible] की स्वीकृति मिलती है :—'स होवाच न वा अरे लोकस्य [illegible] में लोकैषणा (यश) की प्रशस्ति है। फिर भी [illegible] अविश्वसनीय क्योंकि कोई आवश्यक नहीं कि [illegible] मिले ही। फिर यह कहना पड़ेगा कि वह '[illegible]' [illegible] सामाजिक उसे हृदयंगम नही कर पाये होंगे [illegible] परिणाम है और गौणतः प्रयोजन। इसका [illegible] काव्य के बाह्य पक्ष से ऊपर नहीं उठ पायी। [illegible] में पैठ कर मूल तत्त्व तक नहीं पहुँच पाए।

धर्मादि साधनोपाय. सुकुमार क्रमोदितः ।
काव्य बन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥1॥
व्यवहारपरिस्पन्द–सौन्दर्य–व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्य माप्यते ॥2॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥3॥

उपर्युक्त कारिकाओं के आधार पर कुन्तक के काव्य-प्रयोजनों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) चतुर्वर्गफल प्राप्ति (2) व्यवहार औचित्य का ज्ञान और (3) चतुर्वर्ग-फलास्वाद से भी बढ़ कर अन्तश्चमत्कार की प्राप्ति।

कुन्तक के परवर्ती सभी आचार्यों ने घुमा-फिराकर लगभग इन्हीं काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख किया है। इनमें मम्मट का प्रस्तुतीकरण अधिक उपयोगी माना गया है। मम्मट ने यद्यपि समस्त प्रयोजनों का शीर्षस्थ प्रयोजन 'आनन्द' को माना है तथापि इन्होंने सामान्य प्रयोजनों का उल्लेख भी अपने ग्रन्थ काव्य प्रकाश में किया है। आपके अनुसार 'सकल प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् अर्थात्[1] समस्त प्रयोजनों का शीर्षस्थ प्रयोजन आनन्द की प्राप्ति है जो रसास्वादन के समय समस्त ज्ञान के विगलित होने पर अभिव्यक्त होता है। सामान्य प्रयोजनों में मम्मट का कथन इस प्रकार है :—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥[2]

उपरिलिखित श्लोक के आधार पर काव्य के अधोलिखित प्रयोजन स्पष्ट होते हैं—(1) यश की प्राप्ति (2) अर्थ की प्राप्ति (3) लोक-व्यवहार का ज्ञान (4) अनिष्ट निवारण (5) तात्कालिक आनन्द, और (6) कान्ता-सम्मित उपदेश। मम्मट ने अपनी कृति में 'तात्कालिक आनन्द' को ही सर्वोपरि प्रमुखता प्रदान की है। मम्मट द्वारा वर्णित काव्य-प्रयोजनों का यही वैशिष्ट्य है कि उनका उल्लेख एक निश्चित एवं स्पष्ट शब्दावली में हुआ है। अनिष्ट निवारण को छोड़ कर शेष उन्हीं प्रयोजनों का ही विवरण मिलता है, जिनका विवरण पूर्ववर्ती आचार्य प्रस्तुत कर चुके हैं। अनिष्ट निवारण प्रयोजन के लिए मम्मट ने मयूर कवि को उद्धृत किया है जिन्होंने

---

1. मम्मट, काव्यप्रकाश, 1–2.
2. वही. वृत्ति ।

सूर्य की 'शतश्लोकात्मक' स्तुति लिख कर अपने कुष्ठ रोग का निवारण किया था। डॉ० नगेन्द्र ने उक्त प्रयोजन को एकाङ्गी एवं आकस्मिक माना है क्योंकि इसका आधार दैविक चमत्कार है जो आज के युग में विश्वसनीय नहीं हो सकता, परन्तु मेरे विचार से मम्मट के इस नवीन प्रयोजन की व्याख्या आज के परिप्रेक्ष्य में की जाए तो यह प्रयोजन अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। उदाहरणार्थ आज के राजनीतिक नेताओं की आपा-धापी एवं भ्रष्टाचारपूर्ण रवैये के प्रति तथा पूँजीपतियों के शोषण एवं असामाजिक कृत्यों के विरुद्ध उठाई गई लेखनी को अशिव का निवारण कहा जा सकता है। प्रगतिवादी एवं नये कवियों की एतद्-सम्बन्धी रचनाओं को इसके अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'तात्कालिक आनन्द' और 'कान्तासम्मित उपदेश' जैसे प्रयोजनों की शब्दावली पूर्ववर्ती आचार्यों की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक एवं काव्यानुरूप है। 'लोकोपदेश' शब्द जहाँ सामान्य उपदेश का व्यञ्जक है वहाँ कान्तासम्मित उपदेश कहीं अधिक काव्यमय है तथा रचनाकार की प्रत्यक्ष उपदेश देने की प्रवृत्ति को प्रतिबन्धित करता है। शास्त्रों में वेद वाक्यों को प्रभुसम्मित उपदेश, धर्मशास्त्रों, पुराणों आदि को सुहृत्सम्मित और काव्योपदेशों को कान्तासम्मित कहा जाता है। 'कान्तासम्मित' इसलिए कहा जाता है कि काव्योपदेश सुकुमार कोमल कान्त पदावली में व्यक्त व्यञ्जना-प्रधान होता है। वस्तुतः कवि किसी तथ्य का उपदेशात्मक निरूपण न कर उस तथ्य की भाव-प्रतिमा प्रस्तुत कर मानव-मन को उस ओर आकृष्ट करता है जिस प्रकार कोई पत्नी अपने पति को अपनी फटी हुई साड़ी दिखाकर नई साड़ी खरीदने को व्यञ्जित कर देती है। अतः मम्मट का 'कान्तासम्मित उपदेश' काव्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन माना जा सकता है। कविवर बिहारी के 'नहीं पराग नहीं मधुर मधु....' दोहे से मम्मट के 'शिवेतर-क्षतये' और 'कान्तासम्मितोपदेश' दोनों प्रयोजनों की सिद्धि हुई है।

मम्मट के पश्चात् के आचार्यों ने न्यूनाधिक रूप में इन्हीं प्रयोजनों का उल्लेख किया है। ऐसा भी अनुभव होता है कि परवर्ती आचार्यों ने काव्य के प्रयोजन जैसे विषयों को विशेष महत्त्व प्रदान न कर केवल औपचारिकता का निर्वाह मात्र किया है। भोजराज ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ग्रन्थ में 'कीर्ति और प्रीति' को ही काव्य का प्रयोजन बताया है—

अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।

उक्त श्लोक में प्रथम पंक्ति में काव्य की परिभाषा या उसके स्वरूप का चित्रण और दूसरी पंक्ति में दोनों प्रयोजनों का उल्लेख कर दिया गया है। इसी

प्रकार रुद्रट ने 'शास्त्रों की तुलना में काव्य चतुर्वर्गफल प्राप्ति में अधिक सरल एवं सहायक तत्त्व है' कह कर चतुर्वर्गफल प्राप्ति को ही काव्य का प्रयोजन बताया है :—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेऽभ्यस्ते हि वस्यान्ति शास्त्रेभ्य: ।।

प्रसिद्ध रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने भी चतुर्वर्गफल प्राप्ति को ही काव्य का प्रयोजन बताया है:—चतुर्वर्गफल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।

हिन्दी भाषा के आधुनिक आचार्यों ने काव्य के प्रयोजनों को अन्तिम रूप देकर इस अध्याय को बन्द कर दिया है । आधुनिक हिन्दी आचार्यों ने काव्य के दो प्रमुख प्रयोजन निर्धारित किये हैं—(1) व्यक्तिगत: आनन्द, और (2) समाज: लोक मंगल । वस्तुत: ये दो ऐसे प्रयोजन हैं जिनमें प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित प्राय समस्त प्रयोजनों का समाहार हो जाता है । भरतादि आचार्यों का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, बुद्धि विवर्धन, कला नैपुण्य और प्रीति का 'आनन्द' में समाहार हो सकता है तो हित, लोक-व्यवहार, लोक-मंगल, अनिष्ट-निवारण आदि को 'लोक-मंगल' प्रयोजन में सरलता से समाहित किया जा सकता है । दूसरी ओर 'कवि और पाठक' दोनों के लिए ही ये दोनों प्रयोजन समुचित संगत बैठते हैं । 'आनन्द' कवि का भी विषय है तो सामाजिक भी इससे अछूता नहीं रहता । उधर 'लोक-मंगल' की भावना कवि की कर्त्तव्य बुद्धि या धर्म का विषय है तो यह सहृदय सामाजिक के लिए भी उपादेय है । इस प्रसङ्ग में केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि हमारे भारतीय मनीषी 'आत्माभिव्यञ्जना या आत्मानुभूति' जैसे महत्त्वपूर्ण प्रयोजन की उपेक्षा क्यों करते रहे हैं । जैसा कि इस शीर्षक के प्रारम्भ में मैं कह चुका हूँ कि मानव-मन अभिव्यक्ति चाहता है । यह अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है—(1) सामान्य अभिव्यक्ति और (2) कलात्मक अभिव्यक्ति । यह कलात्मक अभिव्यक्ति ही रसदात्री एवं आनन्ददायिका होती है । अत: घनीभूत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी काव्य का एक प्रयोजन सम्भव है । इस प्रकार हमें काव्य के तीन प्रयोजन ही मुख्य मानने चाहिएँ :—(1) घनीभूत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति (2) आनन्द और (3) लोक-मंगल ।

पाश्चात्य चिन्तकों के अभिमत

पाश्चात्य जगत् में काव्य और कला को एक माना जाता है । फलत: उन्होंने कला के प्रयोजनो पर विचार किया है । कितने ही आलोचकों ने इस विषय पर कितने ही प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है । श्री गुलाबराय ने उनमें से नौ प्रयोजनों को प्रमुख माना है ।

(1) कला कला के लिए (Art for art's sake)
(2) कला जीवन के लिए (Art for life's sake)

(3) कला जीवन से पलायन के लिए (Art as an escape from life)

(4) कला जीवन में प्रवेश के लिए (Art as an escape into life)

(5) कला सेवा के अर्थ में (Art for service's sake)

(6) कला आत्मानुभूति के लिए (Art for self realization)

(7) कला आनन्द के अर्थ में (Art for joy)

(8) कला विनोद के लिए (Art for recreation)

(9) कला सर्जन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के अर्थ में (Art as creative *necessity*)।

यदि उपरिकथित इन नौ प्रयोजनों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए तो अनेक प्रयोजन परस्पर समाहित हो जाएँगे, यथा:—'कला जीवन के लिए, कला जीवन में प्रवेश के लिए और कला सेवा के अर्थ में' प्रयोजनों में कोई तात्त्विक अन्तर प्रतीत नहीं होता। केवल कथन और शब्दावली का ही अन्तर है। इसी प्रकार 'कला कला के लिए, कला आनन्द के लिए, कला विनोद के लिए और कला जीवन से पलायन के लिए' प्रयोजन भी एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। शेष दो *आत्मानुभूति की* व्यञ्जना के परिचायक हैं। अतः इस दृष्टि से भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों के विचारों में कोई तात्त्विक या दार्शनिक भेद नहीं है।

उपर्युक्त समाहार को यों स्पष्ट किया जा सकता है कि जो कला जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करती है वह जीवन में प्रवेश का द्वार तो खोलेगी ही। अतः जीवन में प्रवेश जीवन की व्याख्या है और जीवन की व्याख्या ही जीवन में प्रवेश का दूसरा नाम है। फिर प्रश्न उठता है कि सेवा किस की? अर्थात् किस की सेवा करना कला का प्रयोजन है? उत्तर स्पष्ट है जीवन की अथवा समाज की। इस प्रसङ्ग में समाज और जीवन को समान बोधक माना जाना चाहिए। दूसरे आनन्द वर्ग में 'जीवन से पलायन' प्रयोजन अपने आपको अन्तर्मुखी कर लेना मात्र है। भारतीय रस व्यवस्था भी तो अप्रत्यक्ष रूप में यही है। यदि इसकी विपरीत व्याख्या की जाए तो इसका समाहार 'कला जीवन के लिए' प्रयोजन में सरलता से समाहित हो जाता है क्योंकि जीवन से पलायन भी तो एक प्रकार से जीवन की व्याख्या ही है। प्रसादजी की ये पंक्तियाँ *'तज कोलाहल की अवनी रे।'* जो उनके *उस गीत में आयी है जिसे* आलोचक प्रसाद की पलायनवादी प्रवृत्ति के रूप में उद्धृत करते हैं, क्या जीवन की व्याख्या नहीं है? जब कवि जीवन की विघ्न-बाधाओं की अभिव्यक्ति करता है तब वह जीवन की व्याख्या करता है और जब नवीन जीवन में प्रविष्ट होने की कल्पना करता है तब वह अन्तर्मुखी होकर आनन्दानुभव करता है। अतः किसी शीर्षक की संख्याओं को बढ़ा देना उसका तात्त्विक विवेचन नहीं कहा जा सकता बल्कि अच्छा यह होता है कि हम ऐसी शब्दावली का प्रयोग करें जो सम्बद्ध अंगों उपाङ्गों को अपने

मे सरलता से समाहित कर ले। वस्तुतः रोमाण्टिक कवि 'कीट्स्' ने ए थिंग ऑफ ब्यूटी इज़ ज्वाय फार एवर' कह कर कितनी सरलता से काव्य के प्रयोजन की अभिव्यक्ति कर दी। उसी प्रकार आलोचकों को भी लाघव का दामन पकड़ना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन एवं विश्लेषण के पश्चात् हम सरलता से कह सकते हैं कि पाश्चात्य आलोचकों ने भी काव्य के मूलतः तीन ही प्रयोजन माने हैं—(1) जीवन की व्याख्या, (2) आत्मानुभूति की अभिव्यञ्जना, और (3) आनन्द। पाश्चात्यों की 'जीवन की व्याख्या' प्रयोजन प्राचीन भारतीयों की 'धर्मार्थ काम मोक्ष' चतुर्वर्ग फल प्राप्ति, और आधुनिक आलोचकों के 'लोक-मंगल' प्रयोजन से भिन्न कोई प्रयोजन नहीं है। केवल शब्दावली एवं कथन का अन्तर है।

अन्त में मैं अपने मन्तव्य को पुनः दोहराना चाहूँगा कि काव्य-रचना का सर्वोपरि प्रयोजन केवल एक ही है और वह है 'घनीभूत अनुभूतियों को व्यक्त करने की अदम्य लालसा।' शेष जितने भी प्रयोजन भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों ने गिनाये हैं वे या तो स्थूल प्रयोजन हैं या फिर काव्य रचना के परिणाम या फल। किसी रचनाकार की रचना को सुन कर या पढ़ कर किसी धनीमानी दानी व्यक्ति ने दान दे दिया या रचना के प्रकाशन के बाद रचना की बिक्री धड़ाधड़ होने लग गयी और अमित धनराशि की आय हो गयी, लोगों मे उसका यश फैल गया, रचना की माँग बढ़ने लग गयी आदि तो रचना के रचित होने के बाद के परिणाम हैं। कोई कवि या रचनाकार उक्त दोनों बातों को अपना लक्ष्य बना कर सत्काव्य की रचना कर ही नही सकता। मीराबाई, कबीर आदि जैसे भक्तों ने स्वप्न मे भी नही सोचा होगा कि भविष्य में उन्हें महान् कलाकारों के रूप में जाना जाएगा या उनकी पंक्तियों को देश की ऊँची-ऊँची कक्षाओं मे पढाया जाएगा। अपने प्रियतम से मिलने की अभूतपूर्व लालसा ने उन्हे अभिव्यक्ति के लिए बाध्य किया और उन्होंने अपनी आन्तरिक अनुभूतियों को भाषा-निबद्ध कर दिया। वही उनका प्रयोजन था। कवि शिरोमणि तुलसीदास ने स्पष्ट ही कर दिया कि उसने अपने काव्य की रचना 'स्वान्त सुखाय: की है। बाद में वह लोक-जन-हिताय सिद्ध हुई वह उसका परिणाम या फल है, प्रयोजन नही है। हां! रीतिकालीन कवियों ने अवश्य राज्याश्रय की खोज मे अपनी रचनाओं का निबन्धन किया जो 'अर्थकृते' के अन्तर्गत आता है, परन्तु यदि गहराई से देखा जाए तो पाएँगे कि वहाँ भावों की अभिव्यक्ति ही प्रबल रही है अन्यथा वे जीवित नही रहते। जिन्होंने केवल राज्याश्रय को प्रमुखता देकर रचनाएँ की, उनकी रचनाएँ काल गति मे ध्वस्त हो गयी या फिर सूक्ति मात्र बन कर रह गयी या फिर उन्हें राजाओं द्वारा अपने आश्रय से निकाल दिया गया क्योंकि तीव्रतम अनुभूतियों के घनीभूतत्व के अभाव मे उनकी रचनाएँ पद्य-बद्ध तो हो गयी किन्तु रस की आस्वादक नही बन पायी। फलतः हम यह सकते हैं कि कोई भी रचना हो, उसके पीछे कवि या लेखक की पीड़ा विद्यमान रहती है।

काव्य के हेतु

काव्यशास्त्र में हेतु शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में किया जाता है। दर्शनशास्त्र में जिसे 'कारण' कहा जाता है, काव्यशास्त्र में लगभग उसे 'हेतु' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रयोजन काव्य के लक्ष्य का विधायक या द्योतक है तो हेतु उसकी (काव्य की) उत्पत्ति का कारण है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि काव्य कार्य है और हेतु उसका कारण है। 'कार्य बीज रूप में कारण में निहित रहता है' यह भारतीय दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है जिसका विवरण अद्वैतवाद के अन्तर्गत विवर्तवाद में प्रदर्शित किया गया है, किन्तु काव्य का हेतु कुछ अर्थों में इससे भिन्न तत्त्व है। न्यायदर्शन का 'हेतु' भी काव्यशास्त्र के 'हेतु' से मिलता-जुलता होने पर भी पूर्णतः समान नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रियों के 'काव्य-हेतु' की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। डॉ० नगेन्द्र का यह कहना कि 'साधारणतः काव्य के सहायक अंगों के लिए काव्य-हेतु शब्द ही प्रचलित हो गया है।' उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि 'काव्य-हेतु' काव्य का सहायक अंग कैसे हो सकता है। हाँ ! यदि डाक्टर साहब का 'काव्य' शब्द से काव्य-रचना का तात्पर्य है तो कुछ सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। श्री गुलाबराय इस विषय में अधिक स्पष्ट हैं। आपके अनुसार, 'हेतु' का अभिप्राय उन साधनों से है जो कि कवि की काव्य-रचना में सहायक होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने काव्य-हेतुओं में वर्णित प्रतिभा को काव्यत्व का बीज मान कर उसे काव्य-रचना का कारण बताया है। कारण दो प्रकार के होते हैं :—(1) उपादान कारण, और (2) निमित्त कारण। काव्यशास्त्रियों ने काव्य-हेतुओं की इस आधार पर तो व्याख्या नहीं की किन्तु उन्होंने जिस रूप में काव्य-हेतुओं का विवरण प्रस्तुत किया उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके अन्तर्मन में यह व्यवस्था थी अवश्य।

भारतीय मनीषियों में सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्य के हेतुओं का अप्रत्यक्ष चित्रण मिलता है जिसकी स्पष्ट छाप परवर्ती आचार्यों के काव्य-हेतुओं पर दिखाई देती है। अग्निपुराण में लोक-व्यवहार तथा वेद के ज्ञान को काव्य प्रतिभा की योनि कहा है तथा सिद्ध किये मन्त्र के प्रभाव से जो काव्य निर्मित होता है उसे अयोनिज काव्य कहा है।[1] उक्त श्लोकों से काव्य के तीन हेतुओं का निष्कर्ष निकाला जा सकता है—(1) काव्य प्रतिभा, (2) वेद ज्ञान, और (3) लोक-व्यवहार। आगे चल कर भामह ने इस कथन को कुछ विस्तृत करके लिखा है किन्तु अग्निपुराणकार ने कवि-प्रतिभा का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है। यह अवश्य प्रतिपादित किया है कि 'शक्ति' एक दुर्लभ वस्तु है।[2] भामह के अनुसार काव्य-रचना के लिए

1. अग्निपुराण 337/8, 9
2. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्यातत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा, अग्निपुराण, 337/7

व्याकरण छन्दशास्त्र, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोक-व्यवहार, युक्ति तथा कलाओं का काव्य-रचना में प्रवृत्त होने वाले कविजनों को मनन करना चाहिए :—

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्ति कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ॥[1]

उक्त श्लोक से प्रतिभा का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है किन्तु अन्य स्थल पर भामह ने प्रतिभा को मूल हेतु के रूप में प्रस्तुत किया है और कहा है कि गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकता है, परन्तु काव्य की रचना प्रतिभावान् ही कर सकता है ।[2]

भामह के पश्चात् दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा का उल्लेख किया है और उसे नैसर्गिक शक्ति बताया है । दूसरे, लोक-व्यवहार और शास्त्र ज्ञान को एक वर्ग में रख कर उसको अमन्द अभियोग अर्थात् अभ्यास को तीसरा हेतु प्रस्थापित किया है । भामह ने अभ्यास का भी कोई उल्लेख नही किया है । दण्डी ने काव्य के तीन कारण प्रस्तुत किये हैं—(1) नैसर्गिक प्रतिभा, (2) लोकशास्त्र-ज्ञान, और (3) अमन्द अभियोग । यहाँ पर द्रष्टव्य है कि भामह सब कुछ होते हुए भी प्रतिभा के बिना काव्य-रचना असम्भव मानते हैं जबकि इसके विपरीत दण्डी प्रतिभा की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी श्रम और यत्न को पर्याप्त महत्त्व देते है । उनका कथन है कि 'कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्ध गोष्ठीषु विहर्तुमीशते । अर्थात् कवि-प्रतिभा से रहित व्यक्ति भी परिश्रम से कविजनों की गोष्ठी मे सम्मिलित होने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं ।[3] परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि दण्डी ने 'प्रतिभा' को नकारा हो ।

दण्डी के पश्चात् हम 'वामन' को ले सकते है । वामन अनेक काव्य हेतुओं का विवरण देते हैं किन्तु उन सबको उसने तीन वर्गों मे विभाजित किया है :—(1) लोक, (2) विद्या और (3) प्रकीर्ण । 'लोक' को स्पष्ट करते हुए वामन ने उसे 'लौकिक व्यवहार का ज्ञान' बताया है । विद्या के अन्तर्गत वे शब्द-शास्त्र, कोश, छन्द-शास्त्र, कला, दण्डनीति आदि विद्याओं को परिगणित करते है और प्रकीर्ण के अन्तर्गत लक्ष्य ज्ञान, अभियोग, वृद्ध सेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान

1. भामह, काव्यालंकार
2. गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम् । काव्यं तु जायते जातु कस्यचिद् प्रतिभावतः ॥ भामह, काव्यालंकार
3. दण्डी, काव्यादर्श, 1/105.

को ग्रहण करते है ।[1] डॉ० नगेन्द्र का वामन के प्रति यह कथन कि, 'वामन के सम्पूर्ण विवेचन से परिलक्षित होता है कि उन्होंने प्रतिभा को वाञ्छित गौरव प्रदान नहीं किया ।' उचित प्रतीत नही होता। डॉ० नगेन्द्र ने इसके दो कारण प्रस्तुत किये हैं—(1) वामन ने लोक और विद्या को पहला स्थान दिया और प्रतिभा जैसे हेतु को तीसरे स्थान प्रकीर्ण में फेंक दिया, (2) वामन ने लोक और विद्या को सर्वथा स्वतन्त्र महत्त्व दिया जबकि अन्य विद्वानों ने इन्हें सहायक कारण के रूप मे माना है। इस प्रसङ्ग में निवेदन है कि इसमें वामन का शैलीगत दोप हो सकता है, विचारगत दोप नही है। वामन ने अत्यन्त सशक्त शब्दावली में घोषणा की है कि प्रतिभा कवित्व का बीज है और इसके अभाव में काव्य-रचना सम्भव नही है और यदि है भी तो वह उपहास्य हो जाती है। वामन प्रतिभा की प्रशस्ति में इससे अधिक और कह भी क्या सकता था ? इस प्रकार वे दण्डी के तुलना में प्रतिभा के अधिक हिमायती हैं जैसा कि उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट है।

वामन के पश्चात् कुन्तक ने भी काव्य-हेतुओं पर विचार किया है और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुरूप काव्य के तीन ही हेतु बताए हैं जिनमें प्रतिभा को प्रमुखता प्रदान की गयी है। यहां पर एक बात प्रमुखता से सामने आती है और वह यह कि वह इन तीनो हेतुओं से भी अधिक महत्त्व कवि स्वभाव को देते है। उनका कथन है कि सुकुमार स्वभाव से ही सुकुमार शक्ति उत्पन्न होती है; शक्ति और शक्तिमान् के अभिन्न होने से—और उसी सुकुमार शक्ति से उसी प्रकार की सौकुमार्य व्युत्पत्ति की प्राप्ति होती है। उन दोनो के द्वारा सुकुमार मार्ग से अभ्यास किया जाता है; यथा.—सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजाशक्तिः समुद्भवति, शक्ति-शक्ति मतोरभेदात् तथा च तथाविध-सौकुमार्य-रमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्या च सुकुमार-वर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते। (वक्रोक्ति काव्य जीवितम् 1/24 वृत्ति) वस्तुतः यहाँ कुन्तक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की तुलना मे अधिक आन्तरिक दृष्टि का परिचय दिया है क्योकि कविता मूलतः स्वभावोत्पाद्या होती है। इससे इन्कार नही किया जा सकता है अन्यथा सभी कवि एवं रचनाकार एक प्रकार की प्रवृत्ति वाली रचना का ही प्रणयन करते किन्तु ऐसा नही होता और न ही कभी हुआ है। फलतः स्वभावानुसार ही प्रतिभा का प्रसार होता है और तदनुकूल ही कवि अपने कार्य-सम्पादन में अग्रेसर होता है। अतः इस रूप में हम कुन्तक को आत्म-परक एवं वस्तुपरक तत्त्वों के समन्वयक के रूप में पाते हैं।

---

1. लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्यागानि, लोकवृत्तं लोकः शब्दस्मृ त्यभिधानकोश-च्छन्दोविचिति कला काम शास्त्र दण्ड नीति पूर्वा विद्याः, लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवा वेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्-वामन, काव्यालंकार सूत्र 1/3/1, 2, 3, तथा 11.

कुन्तक के पश्चात् काव्य हेतुओं पर विचार करने वालों में हम मम्मट को सर्वाधिक व्यवस्थित एवं निश्चित शब्दावली में काव्य-हेतुओं पर विचार करने वाला आचार्य मानते हैं। वस्तुतः मम्मट तक आते-आते काव्य-शास्त्र पर्याप्त मात्रा में उन्नति कर चुका था। अतः मम्मट के समक्ष काव्य-शास्त्र का एक सर्वाङ्गपूर्ण चित्र प्रस्तुत हो चुका था। फलतः मम्मट ने उसका सम्पूर्णतः उपयोग कर एतत्सम्बन्धी प्रत्येक सिद्धान्त को स्थायी एवं स्पष्ट स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। मम्मट के काव्य-हेतुओं में एक यह वैशिष्ट्य है कि उसने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित हेतुओं की समष्टि को व्यष्टि में देखने का प्रयास किया है। आपके अनुसार काव्य के उक्त तीनों हेतु पृथक्-पृथक् काव्य-रचना के कारण नहीं हैं अपितु तीनों सम्मिलित रूप में ही काव्य-हेतु हैं 'हेतुर्नतु हेतवः।' जबकि पूर्ववर्ती आचार्यों में से किसी ने प्रतिभा तो किसी ने व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को प्राथमिकता देने का प्रयास किया है। परवर्ती आचार्यों ने तीनों की समग्रता को तो स्वीकार किया है किन्तु उनके पार्थक्य की भी रक्षा करने का प्रयास किया है जबकि मम्मट उनकी समग्रता के ही पक्षधर रहे हैं। आपके अनुसार हेतु इस प्रकार हैं :—

शक्तिर्निपुणता लोक शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥[1]

अर्थात् काव्य के तीन हेतु हैं—(1) शक्ति, (2) निपुणता, और (3) अभ्यास। यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि मम्मट ने 'निपुणता और अभ्यास' दो नवीन शब्दों का प्रयोग किया है। परवर्ती आचार्य लोक, वेद और शास्त्र ज्ञान तथा अभियोग जैसे शब्दों का प्रयोग करते पाये जाते हैं। वामन ने तो इसके लिए अनेक शब्दों—कला, काम, दण्ड नीति आदि का प्रयोग किया है। कुछ ने लोक-ज्ञान और शास्त्र-ज्ञान को पृथक्-पृथक् रूप मे प्रतिष्ठित किया है तो कुछ ने अभ्यास का उल्लेख ही नहीं किया है। जहाँ तक 'शक्ति' शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी आचार्यों ने शक्ति एवं प्रतिभा का पर्याय के रूप मे प्रयोग किया है। एक नवीनता यह है कि मम्मट ने 'हेतु' शब्द का एक वचन मे प्रयोग किया है जो स्पष्ट संकेत करता है कि उक्त तीनो हेतु एक साथ मिलकर ही काव्य-रचना के हेतु हैं न कि पृथक्-पृथक्। तीनों का समवेत रूप ही काव्य-रचना का कारण है। मम्मट के परवर्ती आचार्यों ने लगभग इन तीनों को ही किसी न किसी रूप में काव्य-हेतु के रूप मे स्वीकार किया है। इसके साथ-साथ आचार्यों ने मुख्यतः प्रतिभा या शक्ति का और गौणतः व्युत्पत्ति और अभ्यास के स्वरूप का निरूपण करने का प्रयास किया है। अतः इनके स्वरूप पर विचार कर लेना भी अप्रासङ्गिक न होगा।

1. मम्मट, काव्य-प्रकाश, 1/3.

प्रतिभा का स्वरूप

भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य-रचना के लिए प्रतिभा को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। 'प्रतिभा' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है; 'भा' धातु के साथ 'प्रति' उपसर्ग लगाकर 'क' प्रत्यय के बाद स्त्रीवाची 'टाप्' प्रत्यय लगा कर निष्पन्न किया जाता है जिसका अर्थ होता है—प्रकाशित करने वाली शक्ति अर्थात् मेधा। इसकी व्याख्या यों भी की जा सकती है कि 'प्रतिभा' एक ऐसी ज्योति या प्रकाश है जिससे कवि या रचनाकार के हृदयस्थभाव प्रतिभासित या प्रकाशित हो उठते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में इसी अर्थ को व्यक्त किया है। काव्याचार्यों में दण्डी, वामन, रुद्रट, भट्टतौत, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने प्रत्यक्ष रूप में प्रतिभा का विवेचन प्रस्तुत किया है जबकि अन्य आचार्यों में प्रसङ्गवश प्रतिभा के स्वरूप का उल्लेख मिलता है।

सर्वप्रथम दण्डी ने 'प्रतिभा' को पूर्व-वासना के गुणों से सम्बद्ध बताया है तथा काव्य के लिए उसकी उपयोगिता पर भी बल दिया है; यथा:—'पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्[1] 'पूर्व वासना' से दण्डी का अभिप्राय मानव के संस्कारों से ही प्रतीत होता है जो जन्म-जन्मान्तर से घनीभूत होते रहते हैं। वामन ने इसी पूर्ववासना को स्पष्ट रूप से जन्म जन्मान्तर से आगत सस्कार कहा है और उसे कवित्व का बीज माना है; यथा—कवित्व बीजं प्रतिभानम्''''''जन्म-जन्मान्तरागत संस्कार विशेष: कश्चित्।[2] अभिनवगुप्त ने भी प्रतिभा को अनादि एवं प्राक्तन सस्कार बताया है; यथा—अनादि प्राक्तन संस्कार प्रतिभानयः[3]।

उपर्युक्त समस्त आचार्यों ने प्रतिभा को पूर्व संस्कार के रूप में मानते हुए इसे जन्मजात शक्ति के रूप में उल्लिखित किया है तथा शक्ति और प्रतिभा को एक ही माना है किन्तु राजशेखर ने इन्हें भिन्न-भिन्न तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार शक्तिमान् में ही प्रतिभा उद्भासित होती है और प्रतिभा और व्युत्पत्ति द्वारा शक्ति का विविध रूप में विस्तार होता है। अतः काव्य का मूलभूत हेतु केवल शक्ति है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति समवेत रूप में काव्य के लिए श्रेयस्कर हैं, यथा:—'प्रतिभा व्युत्पत्ती मिथः, समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीयः। 'सा शक्तिः केवलं काव्य हेतुः' इति यायावरीयः, तावुभावपि शक्तिमुद्भासयत., शक्तिकर्तृके हि प्रतिभा व्युत्पत्ति कर्मणी, शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तस्य व्युत्पद्यते।[4]

---

1. दण्डी-काव्यादर्श 1/104
2. वामन, काव्यालंकार सूत्र, 1/3/16, 17
3. अभिनवगुप्त—अभिनव भारती—प्रथम खण्ड
4. राजशेखर, काव्य मीमांसा, पृष्ठ 4 व पृष्ठ 39 पर उद्धृत

इसके पश्चात् राजशेखर प्रतिभा के स्वरूप पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'प्रतिभा शब्द समूहो विभिन्न अर्थों, अलंकार, तन्त्र, उक्ति मार्ग तक सीमित रहती हुई उसी प्रकार कवि हृदयो मे प्रतिभासित होती हैं तथा उसके द्वारा अदृष्ट पदार्थों का भी प्रत्यक्षीकरण होता है; यथा:—या शब्द ग्राममर्थसार्थमलंकार तन्त्रमुक्ति मार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदय प्रतिभासयति सा प्रतिभा—प्रतिभावत. पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव ।[1] स्पष्ट है कि राजशेखर प्रतिभा के क्षेत्र को विस्तृत कर देते हैं और पुन. उसे दो वर्गों मे विभाजित करते हैं; यथा.—(1) कारयित्री प्रतिभा और (2) भावयित्री प्रतिभा । कारयित्री प्रतिभा कवि में और भावयित्री प्रतिभा भावक के हृदय मे निवास करती है । कारयित्री प्रतिभा को उन्होने पुनः तीन वर्गों मे विभाजित किया है—(1) सहजा कारयित्री प्रतिभा, (2) आहार्या कारयित्री प्रतिभा और (3) औपदेशिकी कारयित्री प्रतिभा । इनकी व्याख्या करते हुए राजशेखर 'सहजा प्रतिभा' को जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का प्रतिफल बताता है तो 'आहार्या' को वर्तमान जीवन का सस्कार कहता है और 'औपदेशिकी' को तन्त्र, मन्त्र, देवता, स्वजन, गुरु आदि के उपदेश एव शिक्षा द्वारा उद्बुद्ध बताता है; यथा:—'कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री साऽपि त्रिधा-सहजा, आहार्या, औपदेशिकी च । जन्म-जन्मान्तर सस्कारापेक्षिणी सहजा । जन्म संस्कार योनिराहार्या । मन्त्र-तन्त्राद्युपदेश प्रभवा औपदेशिकी ।

इससे पूर्व रुद्रट भी प्रतिभा को दो वर्गों मे विभाजित कर चुका था—(1) सहजा और (2) उत्पाद्या । सहजा को रुद्रट ने जन्मजात माना है तथा उत्पाद्या को व्युत्पत्ति जन्य कहा है तथा सहजा को ही काव्य का मूल कहा है; यथा—

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।[2]
उत्पाद्या तु कथंचित् व्युत्पत्त्या जन्यते परया ।[3]
पुसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ।
स्वस्यासौ सस्कारे परमपरं मृगयते हेतुम् ॥[4]

तत्पश्चात् इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रुद्रट कहते हैं कि शक्ति कवि के मन मे विस्फुरित अनेक अभिधेयों (काव्य-विषयो) को उपयुक्त शब्दों मे अभिव्यक्त करने मे या करवाने मे सक्षम होती है; यथा:—

1. वही पृष्ठ 26–27
2. रुद्रट, काव्यालकार, 1/14
3. वही पृष्ठ 1/17
4. वही पृष्ठ 1/16

इनके पश्चात् अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तौत ने प्रज्ञा को मूलभूत शक्ति मान कर प्रतिभा को उसका एक रूप बताते हुए उसे नवोन्मेषशालिनी शक्ति कहा है :—

प्रज्ञा नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। अर्थात् प्रतिभा प्रज्ञा का वह रूप है जो नवीन-नवीन रूपों का सर्जन तथा उद्घाटन करती है। अभिनव गुप्त ने अपने गुरु की व्याख्या को और स्पष्ट करते हुए बताया है कि प्रतिभा प्रज्ञा का वह रूप है जिसमें अपूर्व रूपों की सृष्टि करने की क्षमता होती है; यथा:—'प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा।' आगे की पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त भी प्रतिभा के दो रूप मानता है[2]—(1) सामान्य प्रतिभा, जो अपूर्व वस्तुओं के निर्माण की क्षमता रखती है और (2) कवि-प्रतिभा, जो विशेष है और जिसके द्वारा कवि रसावेश में विशद सौन्दर्ययुक्त काव्य-निर्माण की क्षमता प्राप्त करता है; यथा—तस्या विशेषो रसावेश वैशद्य सौन्दर्य काव्यनिर्माणक्षमत्वम्।

अभिनव गुप्त के पश्चात् कुन्तक ने प्रतिभा पर विचार किया है और उसे कवि-स्वभाव से प्रसूत शक्ति बताया है। आपके अनुसार प्रतिभा के प्रथमोद्भेद के समय ही शब्दार्थ चमत्कार अन्तः स्फुरित होता है।[3] एक अन्य स्थल पर लिखते हैं कि अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही शब्द और अर्थ में नवीन चमत्कार उत्पन्न होता है।[4] कुन्तक मूलतः अभिनव गुप्त से सहमत नहीं हैं। अभिनवगुप्त प्रतिभा को अदृष्ट को 'दृष्ट' करने वाली शक्ति मानता है जबकि कुन्तक सामान्य को चमत्कारपूर्ण विशेष के रूप में प्रस्तुत करने वाली शक्ति के रूप में उसे स्वीकृति देता है और कहता है कि प्रतिभा जन्मजात संस्कार ही नहीं अपितु वर्तमान जीवन का संस्कार भी होती है; यथा:—प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा। इससे स्पष्ट होता है कि कुन्तक प्रतिभा को संस्कार विशेष न मानकर संचित संस्कारों का परिपाक मानता है। इसके साथ ही वह इसके अभिव्यक्ति पक्ष को अधिक मान्यता देता हुआ प्रतीत होता है।

मम्मट शक्ति को काव्य का बीज स्वीकार करते हुए इसके बिना काव्य-रचना असम्भव मानते हैं किन्तु साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी उतना ही महत्त्व देते हैं। इससे पूर्व महिम भट्ट प्रज्ञा को प्रतिभा का स्वरूप मानते हुए कहते हैं कि

---

1. रुद्रट, काव्यालंकार, 1/16
2. ध्वन्यालोक लोचन, 1/6 की लोचन टीका।
3. प्रतिभा प्रथमोद्भेद समये यत्र वक्रता। शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते। कुन्तक, वक्रोक्ति काव्य जीवितम्, 1/34
4. अम्लान प्रतिभोद् भिन्न नव शब्दार्थः, वही पृष्ठ 1/55

'रसानुकूल शब्दार्थ के चिन्तन में निमग्न समाहित-चित्त ही कवि-प्रज्ञा है और जब वह शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करती हुई उद्दीप्त हो उठती है उसी क्षण उसकी प्रतिभा संज्ञा हो जाती है। इससे भी यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रतिभा कवि की वह आन्तरिक शक्ति है जो उसे शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप के साथ साक्षात्कार कराती है; यथा.—

रसानुगुण शब्दार्थचिन्तास्तिमित चेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार प्रतिभा काव्य-रचना के अनुकूल शब्दार्थ उपस्थित करने वाली शक्ति है। पण्डितराज वाग्भट्ट एवं हेमचन्द्र की तरह केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण स्वीकार करते हैं; यथा:—प्रतिभैव केवला कारणम्। अतः स्पष्ट है कि प्रतिभा सर्वोपरि है।

उपर्युक्त भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार 'प्रतिभा' के स्वरूप को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :—

(1) मनुष्य की मूलभूत शक्ति का नाम प्रज्ञा है।
(2) प्रज्ञा जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारो का परिमार्जित एवं घनीभूत रूप है।
(3) प्रज्ञा के अनेक रूप होते हैं और उनमें प्रतिभा भी एक रूप है।
(4) प्रतिभा के दो रूप होते हैं—(1) सामान्य-प्रतिभा, (2) कवि-प्रतिभा।
(5) कवि प्रतिभा के भी दो रूप होते हैं—(1) सहजा प्रतिभा और (2) उत्पाद्या प्रतिभा।
(6) प्रतिभा के अनेक कार्य हैं—
  (क) रसात्मक रूपों का उन्मेष।
  (ख) रसात्मक रूपों का सर्जन।
  (ग) नव-नव रूपों का उन्मेष।
  (घ) नव-नव रूपों का सर्जन।
  (ङ) अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमता।
  (च) अपूर्व एवं विशद सौन्दर्य-निर्माण क्षमता।
  (छ) शब्दार्थ सौन्दर्य में अतिशयता लाने की क्षमता।
  (ज) काव्य-रचना की कारणभूत शक्ति।
  (झ) प्रतिभाएँ अनन्त हैं और उनके कार्य भी अनन्त हैं।

डॉ० नगेन्द्र ने पाश्चात्य मनोविज्ञान-वेत्ताओं के आधार पर प्रतिभा का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है[1] :—

---

1. डॉ० नगेन्द्र भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, आचार्य कुन्तक और वक्रोक्ति सिद्धान्त, पृष्ठ 229

(1) प्रतिभा असाधारण कोटि की मेधा अथवा असामान्य सहज शक्ति है।
(2) प्रतिभा का विकास मानवीय अंगों के अनुरूप नही होता।
(3) प्रतिभा अपने आपको वातावरण के अनुकूल ढालने में असमर्थ रहती है।
(4) प्रतिभा की गति निर्बाध होती है—वह किसी प्रकार का व्याघात या बन्धन स्वीकार नही कर सकती है।
(5) प्रतिभा और सहज-गुण मे यह अन्तर है कि सहज गुण का नियन्त्रण किया जा सकता है, परन्तु प्रतिभा उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द है। वह एक दैवी विस्फोट है, नियन्त्रित घटना नही।
(6) प्रतिभा परिस्थिति और रीति का बन्धन स्वीकार नही करती। अपने सम-सामयिक समाज की रूढियों और मर्यादाओ का उल्लंघन करती हुई वह पर्वत की भाँति सहसा उद्भूत हो उठती है।
(7) प्रतिभा को साधारणता का नीरस-वातावरण असह्य है—वह असाधारणता में ही खुल कर खेलती है।

उपर्युक्त विशेपताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य मनोविज्ञान वेत्ताओं और भारतीय काव्य-शास्त्रियों के प्रतिभा-विवेचन मे कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। भारतीय काव्य-शास्त्री भी यही मानते हैं कि प्रतिभा जन्म-जात संस्कारों का परिपाक है और एक स्वच्छन्द शक्ति है जो नवीनता का आविष्कार करती है तथा जो 'नियतिकृत नियम रहिता' है और उसमें अपूर्ववस्तु-निर्माण क्षमता है। उधर पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने जिस शक्ति का 'कल्पना' के नाम से विवेचन प्रस्तुत किया है वह भारतीय काव्य-शास्त्र की प्रतिभा का ही विवेचन है केवल नाम का अन्तर है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में कॉलरिज और रिचर्ड्स् ने इसे कल्पना, क्रोचे ने सहजानुभूति और कांट ने उत्पादनशील-कल्पना कहा है। कॉलरिज ने अनेकरूपता का एकरूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ समन्वय करने वाली शक्ति का नाम कल्पना कहा है। कॉलरिज ने इसे ही समन्वय और जादू की शक्ति कहा है।

व्युत्पत्ति का स्वरूप

भारतीय आचार्यों में से अधिकतर ने—रुद्रट और मम्मट को छोड़कर—काव्य-रचना का मूल कारण प्रतिभा को ही माना है किन्तु उपकारक या सहकारी कारणों के रूप में व्युत्पत्ति और अभ्यास की भी स्थापना की है। इसी व्युत्पत्ति को मम्मट ने निपुणता कहा है। निपुणता या व्युत्पत्ति से तात्पर्य ज्ञानोपलब्धि से है। यह ज्ञानोपलब्धि दो प्रकार से होती है—(1) शास्त्रों के अध्ययन और (2) लोक-व्यवहार के अवेक्षण से। विद्वानों का अभिमत है शास्त्रों एवं

साहित्य के गहन चिन्तन और मनन से कवि की उक्ति में सौन्दर्य आ जाता है तथा वह परम्परानुकूल व्यवस्थित हो जाती है। काव्य मूलतः समाज-सापेक्ष विधा होती है। फलतः रचनाकार के लिए समाज के स्वरूप, व्यवहार, परिस्थितियों आदि का अवलोकन एवं निरीक्षण परमावश्यक है अन्यथा काव्य के दूषित होने का भय बना रहता है। विभिन्न पदार्थों का सम्यक् ज्ञान एवं रस, अलंकार, गुण-दोष आदि का सुदृढ संस्कार व्युत्पत्ति द्वारा ही सम्भव है। इतिहास का ज्ञान ऐतिहासिक भूलों का तो कामशास्त्र का ज्ञान शृंगार रस सम्बन्धी चेष्टाओं की भूलों का निराकरण कर देता है तो लोक-निरीक्षण लौकिक रीति-रिवाजों, संस्कारों एवं जीवन-पद्धति के प्रति कलाकार को सावधान करता है। कलाकार जितना अधिक अध्ययन करेगा उसकी कला उतनी ही सशक्त, सजीव, परिपूर्ण एवं सुन्दर बन सकेगी। त्रुटिहीन कथन वाणी का आभूषण होता है। फलतः लोक और शास्त्र का अध्ययन अज्ञानवश आने वाली त्रुटियों से कलाकार की रक्षा करता है। इनके अभाव में काव्य में भयंकर भूलों के समावेश की सम्भावना बनी रहती है। हिन्दी कवि केशव ने रामचन्द्रिका में इस प्रकार की भूलें की हैं यथा, श्लेष चमत्कार के चक्कर में राम-लक्ष्मण द्वारा पाण्डवों के नामों का संकेत है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि कवि या रचनाकार को इतिहास, साहित्य, दर्शन, काम-शास्त्र दण्डनीति, कला, व्याकरण, कोश, नृत्यादि चौसठ कलाओं, धनुर्वेद, पशु-शास्त्र आदि अनेक शास्त्रों का गुरु से या स्वयं गम्भीर अध्ययन एवं मनन करना चाहिए। इन शास्त्रों के अध्ययन एवं लोक व्यवहार के ज्ञान से रचना में प्रभावोत्पादकता एवं सहृदय सामाजिक को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता आ जाती है। काव्य-परम्परा का अध्ययन कर कवि अपनी रचना को अभूतपूर्व बना सकता है। कवि या रचनाकार को वर्ण्यविषय की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान एवं ऋतु-ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए। अन्यथा वह रेगिस्तान में धान की खेती का वर्णन कर सकता है।

काव्य-दोषों से बचने के लिए तो रचनाकार को अध्ययन करना ही पड़ेगा क्योंकि काव्य के अधिकतर दोष अध्ययनहीनता के ही द्योतक होते हैं। काव्य-विरोधी, देश-विरोधी, काल-विरोधी, लोक-विरोधी, न्याय एवं आगम विरोधी दोष अध्ययन के अभाव के फलस्वरूप ही जन्म लेते हैं। भाषा के सूक्ष्म ज्ञान के अभाव में अनेक बार भाषा-सौन्दर्य ही नहीं, अपितु भाव-सौन्दर्य की भी हत्या हो जाती है। फलतः भाषा पर अधिकार भी आवश्यक है और वह अधिकार भाषा के गहन अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है। यह सही है कि घनीभूत अभिव्यक्ति ही काव्य का प्राण है किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके आभूषण होते हैं जो भाव को आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बना देते है।

अभ्यास

'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान' के आधार पर यह कहा जा

सकता है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति के साथ-साथ कवि के लिए अभ्यास भी आवश्यक है। गुरु-चरणों में बैठकर लेखन का अभ्यास करने से कवि-लेखन में 'त्वरितता' आ जाती है। वाग्भट्ट के अनुसार कवि को किसी एक छन्द को लेकर उसमें बार-बार लिखने का अभ्यास करना चाहिए, जिससे छन्दों पर अधिकार हो सके। प्रारम्भ में साधारण शब्दावली में काव्याभ्यास करना चाहिए, फिर अलंकार शब्दावली एवं अर्थवत्ता का अभ्यास करना चाहिए। इससे कुछ ही दिनों में कवि सशक्त रचनाओं के निर्माण मे दक्ष हो सकता है। ऐसा करने से काव्य में निखार आ जाता है तथा व्यवस्थित होकर मँज जाता है। जिस प्रकार पानी को बार-बार छानने से वह निर्दोष हो जाता है और बर्तन को बार-बार माँजने से वह चमक उठता है उसी प्रकार अभ्यास से रचना आकर्षक एवं ग्राह्य हो जाती है।

काव्य के भेद

काव्य-भेदों पर भी भारत में प्राचीन समय से ही विचार-विमर्श होता रहा है। भरत से लेकर आज तक आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से काव्य-भेदों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। काव्य का विभाजन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है; यथा—(1) भाषा की दृष्टि से (2) रूप की दृष्टि से (3) इन्द्रियों की दृष्टि से और (4) काव्यत्व या आत्मतत्त्व की दृष्टि से। प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम काव्य-भेदों पर केवल दो दृष्टियों से विचार करेंगे—(1) इन्द्रियाधृत काव्य रूपों की दृष्टि से और (2) आत्मतत्त्व की दृष्टि से।

काव्य-रूपों की दृष्टि से

संस्कृत काव्यशास्त्र में इन्द्रियाधृत काव्य रूपों की दृष्टि से प्रारम्भ से विचार-विमर्श प्रारम्भ हो गया था और आज तक परिस्थितिगत किञ्चित परिवर्तन एव परिवर्धन से उसी रूप में उन्हें स्वीकार किया जा रहा है। भामह ने सर्वप्रथम छन्द को आधार मानते हुए काव्य के दो रूप निर्धारित किये—(1) गद्य, और (2) पद्य।[1] आगे चलकर अग्निपुराणकार ने इसके तीन वर्ग स्थापित किये—(1) गद्य, (2) पद्य और (3) मिश्र।[2] अग्निपुराण का आश्रय लेते हुए दण्डी ने भी काव्य के तीन भेदों का ही प्रतिपादन किया; यथा—गद्य, (2) पद्य और (3) मिश्र—गद्य, पद्य च मिश्रञ्च तत्र त्रिधैव व्यवस्थितम्।[3] उपर्युक्त प्रमुख तीन भेदों के फिर अनेक अवान्तर उपभेदों का विवरण भी इन आचार्यों ने प्रस्तुत किया है। भामह ने पुन. इनके (1) सर्गबन्ध, (2) अभिनेयार्थ, (3) आख्यायिका, (4) कथा और (5) अनिबद्ध नाम

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्य च तद् द्विधा—भामह काव्यालकार–1 16
2. अग्निपुराण 337, 9
3. दण्डी, काव्यादर्श 1/11

मे पाँच भेदों को प्रस्तुत किया—सर्गबन्धोऽभिनेयार्थः तथैवाख्यायिका कथे। अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ।।[1] अग्निपुराणकार ने गद्य को पाद विभाग से रहित पदो का प्रवाह कहते हुए उसके तीन भेद—(1) चूर्णक (2) उत्कलिता और (3) वृत्तगन्धि—प्रस्तुत करते हुए उन्हें परिभाषित किया है। ये भेद वस्तुत छन्द को ध्यान मे रखते हुए किये गये प्रतीत होते है। आगे चलकर विषय-वस्तु एव शैली को ध्यान मे रखते हुए उसने गद्य को पाँच विभागो में विभाजित किया और उनके लक्षण भी प्रस्तुत किये—(1) आख्यायिका, (2) कथा, (3) खण्ड कथा, (4) परिकथा और (5) कथानिका। तत्पश्चात् 'पद्य' को चतुष्पदी के नाम से अभिहित करते हुए छन्द के आधार पर 'वृत्त और जाति' जैसे दो वर्गों मे विभाजित करने का उपक्रम किया गया है। इसके पश्चात् अग्निपुराणकार ने 'पद्य' के सात समुदायों का विवरण प्रस्तुत किया है—(1) महाकाव्य, (2) कलाप, (3) पर्यायबन्ध, (4) कुलक, (5) मुक्तक, (4) विशेषक और (7) कोष। महाकाव्य के लक्षणो का विस्तार से और शेष छह का सक्षेप मे परिचय देते हुए लेखक ने महाकाव्य को पद्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप मे प्रस्तुत किया है। मिश्र काव्य के अन्तर्गत उन्होने 'श्रव्य और अभिनेय' दोनो का समावेश माना है और इसके साथ ही एक 'प्रकीर्ण' भेद का भी उल्लेख किया है। दण्डी ने लगभग अग्निपुराण का अनुसरण किया है और उसी रूप मे उनकी व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की गयी हैं। उन्होने गद्य और पद्य के किसी नवीन रूप की उद्भावना नही की है।[2] इनके पश्चात् वामन ने भी लगभग उन्ही काव्य रूपों का विवेचन किया है जिन रूपो का विवेचन पूर्ववर्ती आचार्य कर चुके थे। वामन की मौलिकता केवल इस बात में निहित है कि उन्होने इनका तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्व प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। वामन के अनुसार 'पद्य' की तुलना मे गद्य की रचना दुष्कर एवं क्लिष्ट कार्य है। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि 'गद्य कवीनाम् निकषं वदन्ति।' दूसरे उन्होने पद्य के क्षेत्र मे महाकाव्य को महत्त्वपूर्ण माना है तथा 'मुक्तक' को महाकाव्य के प्रथम सोपान के रूप मे चित्रित किया है। मिश्र काव्य के अन्तर्गत इन्होंने भी 'नाटक' या अभिनेयत्व तत्त्व को प्रमुखता दी है। इन्होंने कहा है कि प्रबन्ध काव्यों में दशरूपक सबसे श्रेष्ठ होते हैं।

---

1 भामह, काव्यालकार 1/18

2 पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा।
छन्दोविचित्या सकलस्तत्प्रपंचो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणा गम्भीर काव्य-सागरम् ।।
मुक्तकं कुलक कोषः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धाश रूपत्वादनुक्त. पद्य विस्तर. ।।
दण्डी, काव्यादर्श, 1/11, 12 एवं 13

तरह-तरह की विशेषताओं (काव्य, गीत, नृत्य, रंग शोभा आदि) के कारण रूपक चित्र-विचित्र रंग वाले पद के समान मनोरञ्जक होता है।[1]

उपर्युक्त काव्य-रूपों के विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त आचार्यों द्वारा किया गया काव्य-रूपों का विवेचन छन्द एवं विषयवस्तु पर सम्मिलित रूप से आधृत है और उस समय उपलब्ध काव्य-रूपो मे प्राप्त विशेषताओ के आधार पर उनके नाम एवं लक्षण निर्धारित कर दिये गये हैं। उनके तात्त्विक विवेचन में सम्बद्ध आचार्यों का प्रवेश नहीं हो पाया। जिस प्रकार उक्त आचार्यों का ध्यान भाषा-शैली और छन्द पर केन्द्रित रहा है उसी प्रकार परवर्ती आचार्यों आनन्दवर्धन और मम्मट का ध्यान व्यंग्य पर केन्द्रित रहा और उसी आधार पर उन्होंने काव्य-रूपों का विवेचन किया।

ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यङ्ग्याधृत काव्य-रूपों का विवेचन इस प्रकार किया है—यत: काव्यस्य प्रभेदा मुक्तक, संस्कृत प्राकृतापभ्रंश निवद्धम्। सन्दानितक विशेषक कलापक कुलकानि। पर्याय वन्धः परिकथा, खण्डकथा, सकल कथे, सर्ग-वन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका-कथे इत्येवमादयः।[2] इनका विवरण मूलत: प्राचीन आचार्यों का विवरण मात्र है। इनका तो इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही मन्तव्य है कि इनमें (काव्य-रूपों मे) विषयाश्रित औचित्य निहित है।

काव्य रूपों पर सर्वप्रथम वैज्ञानिक दृष्टि हमे विश्वनाथ में मिलती है और उनके वर्गीकरण को आधार मानकर ही आज तक काव्य-रूपो का विवेचन एवं विश्लेषण किया जा रहा है। विश्वनाथ ने प्रारम्भ मे इन्द्रियो के आधार पर काव्य के दो भेद किये—(1) दृश्य और (2) श्रव्य। दृश्य काव्य के पुनः दो भेद किये—(1) रूपक और (2) उपरूपक। पुनः रूपक के नाटक, भाणव्यायोग आदि दस भेद और उपरूपक के अठारह भेदो का उल्लेख अपने ग्रन्थ मे किया।[3]

श्रव्य काव्य के अन्तर्गत उन्होने गद्य और पद्य को परिगणित किया है। छन्दोवद्ध रचना को पद्य और छन्दहीन रचना को गद्य की संज्ञा से अभिहित किया। पुनः दोनों के सम्मिलित रूप को उन्होंने चम्पू का नाम दिया है। हेमचन्द्र ने इन्ही काव्य रूपों को ग्रहण किया।[4] केवल दृश्य शब्द के स्थान पर 'प्रेक्ष्य' शब्द का प्रयोग

---

1. द्रष्टव्य, डॉ. नगेन्द्र, आचार्य वामन और उनका रीति-सिद्धान्त (भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, भाग 2) पृ० 21
2. ध्वन्यालोक, 3/7
3. श्रव्यं श्रोतव्यं मात्रं तत्पद्य गद्यमय द्विधा। छन्दोवद्ध पदं पद्यं, तेन मुक्तेन मुक्तकं। गद्य पद्यमयं काव्य चम्पूरित्यभिधीयते ॥ विश्वनाथ साहित्य दर्पण,
4. काव्यं प्रेक्ष्यं श्रव्य च, हेमचन्द्र काव्यानुशासन 8/1

किया है। इसी प्रकार भामह से लेकर विश्वनाथ तक सभी ने किसी न किसी रूप में 'महाकाव्य' का उल्लेख किया है और उसके लक्षणों का प्रतिपादन भी किया है। इसी प्रकार 'मुक्तक' शब्द का व्यापक प्रयोग उपलब्ध होता है।

हिन्दी-भाषा मे काव्य-रूपो का विकास प्रायः इसी सरणी पर हुआ है किन्तु कुछ अन्तर के साथ क्योंकि हिन्दी भाषा पर संस्कृत भाषा के साथ-साथ पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का भी पर्याप्त मात्रा मे प्रभाव पड़ा।

हिन्दी साहित्य मे भी आचार्यों ने काव्य रूपों पर विचार किया है। आलोचना के स्वतन्त्र विश्लेषण की पद्धति का क्रमबद्ध विकास मुख्यतः आधुनिक काल मे हुआ। कुछ आलोचको ने प्रासंगिक रूप मे और कुछ ने मुख्यतः काव्य-विभाजन पर अपने चिन्तन को भाषा का स्वरूप प्रदान किया है, इनमें आचार्य शुक्ल, श्री श्याम सुन्दरदास, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. भागीरथ मिश्र, श्री कृष्णलाल, बाबू गुलाबराय, डॉ. दशरथ ओझा, डॉ. शकुन्तला दुबे प्रभृति विद्वानों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उक्त आचार्यों ने अपने विवेचन में शाब्दिक अन्तर ही रखा है अन्यथा विभाजन प्रायः संस्कृत शैली पर ही प्रस्तुत किया गया है। हाँ! इतना अन्तर अवश्य है कि उनके लक्षणों के विश्लेषण मे कुछ प्राचीन लक्षणों का परित्याग कर दिया गया है तो कुछ पाश्चात्य लक्षणों को अपने विश्लेषण मे समाविष्ट कर लिया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आलोचकों ने स्वतः ही ऐसा कर दिया है बल्कि वास्तविकता यह है कि सर्जनशील कलाकारों ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों के आवश्यक एवं रुचिकर लक्षणों को स्वीकार करके मिश्रित लक्षणों से संवलित रचनाओं की सृष्टि की है। उन्हीं के आधार पर हिन्दी के आधुनिक आचार्यों ने सम्बद्ध लक्षणों का निर्धारण कर दिया और उनमे उचित और अनुचित निर्णय भी प्रस्तुत कर दिया। उदाहरणार्थ प्रसाद जी का नाटक साहित्य प्राचीन नाटक लक्षणों को आधार बना कर चलता है, वहाँ दूसरी ओर अनेक पाश्चात्य लक्षण भी उसमें समाविष्ट हो गये है। इसी प्रकार एकाङ्की नाटकों ने भी अपने स्वतन्त्र स्वरूप का निर्धारण कर लिया है। इनमें भारतीय एवं पाश्चात्य लक्षणों का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है कि वे यौगिक न रहकर एक स्वतन्त्र सत्ता के परिचायक हो गये हैं। महाकाव्यों एवं कथा साहित्य के क्षेत्र मे भी विकास के ऐसे चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं। इन सब का विस्तृत विवेचन यथास्थान प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

उपर्युक्त समस्त आकलन के पश्चात् मैं हिन्दी साहित्य के सर्जनात्मक साहित्य को दृष्टिगत रखते हुए निम्न प्रकार से काव्य रूपों को प्रस्तुत करना उचित समझता हूँ :—

काव्य
(1) दृश्य
(2) श्रव्य
(1) रूपक
(2) उपरूपक
(1) नाटक (2) प्रकरण (3) भाण (4) व्यायोग (5) समवकार (6) डिम (7) ईहामृग (8) अंक (9) वीथी (10) प्रहसन
(1) नाटिका
(2) त्रोटक
(3) गोष्ठी
(4) सट्टक
(5) नाट्य रासक
(6) प्रस्थान
(7) उल्लाप्य
(8) काव्य
(9) प्रेंखण
(10) रासक
(11) सलापक
(12) श्रीगदित
(13) शिल्पक
(14) विलासिता
(15) दुर्मल्लिका
(16) प्रकरणी
(17) हल्लीश
(18) भाणिका
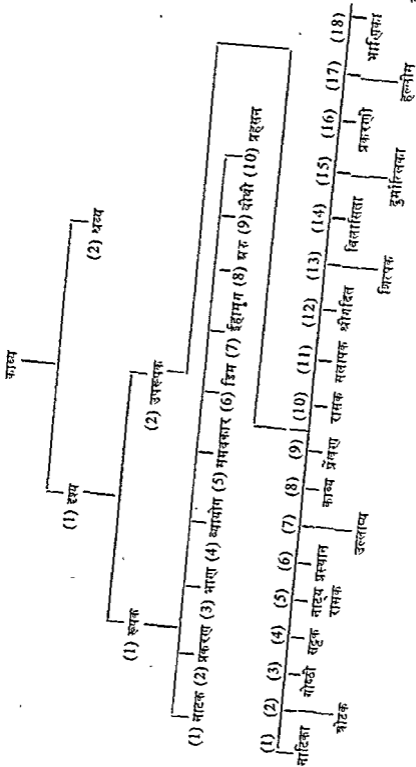
दृश्य काव्य के उपर्युक्त भेदों मे से हिन्दी साहित्य ने रूपक के भेदों को ही कुछ रूपान्तरों के साथ स्वीकार किया है। फलतः हिन्दी साहित्य मे प्रचलित नाट्य भेदों को समझने के लिए उपर्युक्त स्थान पर रूपक के भेदों पर ही विचार किया जाएगा। हिन्दी साहित्य मे रूपक के मुख्यतः चार भेद ही प्रचलन में हैं; यथा :— (1) नाटक, (2) एकाङ्की, (3) रेडियो रूपक, (4) प्रहसन। इनके अतिरिक्त श्रव्य एव दृश्य के सम्मिलन से कुछ अन्य रूपों का विकास भी हिन्दी साहित्य में हुआ है, यथा :—(1) ध्वनि नाट्य (2) भावनाट्य, (3) फीचर एवं (4) रिपोर्ताज़।
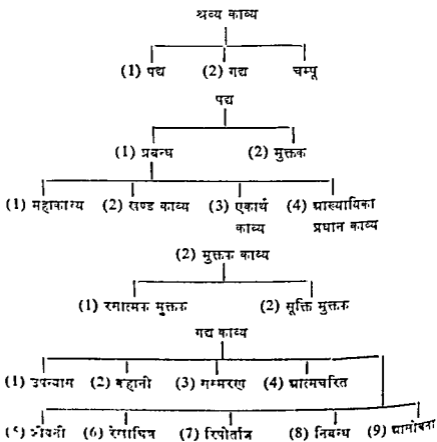
उपर्युक्त सामग्री को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

काव्य—(1) दृश्य काव्य, (2) श्रव्य काव्य।

दृश्य काव्य—(1) रूपक, (2) उपरूपक।

रूपक काव्य—(1) नाटक, (2) प्रकरण, (3) भाण, (4) व्यायोग (5) समवकार, (6) डिम, (7) ईहामृग, (8) अंक, (9) वीथी और (10) प्रहसन।

को अभिनय एवं संवादों के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार काव्य के इस विधा में आरोप का प्राधान्य होने के कारण इसे रूपक काव्य कहा जाता है। दशरूपककार धनञ्जय ने भी यही व्याख्या की है; यथा—'रूप दृश्यतयोच्यते, रूपक तत्समारोपात्' विषय सामग्री को प्रस्तुत करने, इतिवृत्त के संगठन, वस्तु विभाजन, अंक योजना, दृश्य विधान आदि को आधार मानते हुए आचार्यों ने इस काव्य को दस भेदों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार है—(1) नाटक, (2) प्रकरण, (3) भाण, (4) व्यायोग, (5) समवकार, (6) डिम, (7) ईहामृग, (8) अंक, (9) वीथी और (10) प्रहसन। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(1) नाटक—नट-नटी की प्रधानता के कारण तथा दृश्य काव्य का अन्यतम महत्वपूर्ण भेद होने के कारण इसे नाटक कहा जाता है। दशरूपककार धनञ्जय ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' अर्थात् किसी अवस्था विशेष का अनुकरण या अभिनय नाटक कहलाता है। नाटक का निरूपण करते हुए 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ के रचयिता विश्वनाथ ने कहा है कि 'नाटक में ख्यातवृत्त होना चाहिए। ख्यातवृत्त से तात्पर्य इतिहास प्रसिद्ध या पौराणिक वस्तु से है। वस्तु में पञ्चसन्धियों, कार्यावस्थाओं, एवं अर्थप्रकृतियों का सम्यक् सगुम्फन होना चाहिए। इसमें वीर अथवा शृंगार रस की प्रधानता होनी चाहिए। कम से कम गोपुच्छवत् पाँच से दस अंकों तक का विधान होना चाहिए। नायक धीरोदात्त धीरललित या धीर प्रशान्त में से कोई एक होना चाहिए। नायक के समस्त जीवन वृत्त को समाविष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। अभिनेयात्मकता पर लेखक की पूर्ण दृष्टि रहनी चाहिए।

(2) प्रकरण—'प्रकरण' में भी नाटक की तरह रस सिद्धि होनी चाहिए किन्तु नाटक में जहाँ ख्यात वृत्त होना चाहिए वहाँ प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य या कल्पित होती है। इसमें धीरोदात्त नायक न होकर धीर प्रशान्त या धीर ललित नायक अर्थात् ब्राह्मण, पुरोहित, सचिव, वणिक्, मन्त्री आदि में से कोई एक हो सकता है। इसमें भारती वृत्ति का और यत्र-तत्र कैशिकी वृत्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसमें राज-प्रशासन, उदात्त एवं दिव्य चरितों के प्रसंग नहीं रखे जाते। नायिका कुलीन कन्या या वारांगना हो सकती है। मुख्य रस शृंगार होता है। अंकों की संख्या नाटक के समान होती है। मृच्छकटिक, मालती माधव आदि प्रकरण के उदाहरण है।

(3) भाण—रूपक की इस विधा में केवल एक अंक होता है। दृश्य-विधान यथावश्यकता नाटककार की इच्छा और विषय-वस्तु के अनुरूप किया जा सकता है। कथावस्तु कल्पित होती है। इसमें एक ही पात्र होता है और वह भी धूर्त, कपटी एवं दुष्ट होता है। इसमें नायक अपने या अन्य लोगों के धूर्ततापूर्ण कृत्यों का कथन आकाश की ओर मुख उठाकर करता है तथा उनके प्रश्नोत्तर भी स्वयं ही करता

है। इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है। हिन्दी साहित्य के 'एकाभिनय' को इस के समकक्ष रखा जा सकता है। अन्तर केवल रस का है। हिन्दी एकाभिनय में किसी भी रस की प्रमुखता दी जा सकती है जबकि 'भाण' में केवल हास्य रस का ही विधान है। दूसरे, आकाशभाषित शैली की भी एकाभिनय में अनिवार्यता नहीं है। 'लीलामधुकर' इसका उदाहरण है।

(4) व्यायोग—इसकी कथावस्तु प्रख्यात एवं इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसमें स्त्रीपात्र बिल्कुल नहीं होती और यदि होती है तो कोई एक या दो। नायक धीरोद्धत होता है। वह कोई राजर्षि या अलौकिक देव पुरुष होता है। इसमें केवल एक अंक का ही विधान किया जाता है। इसमें वीररस की प्रधानता होती है और युद्ध का विधान किया जाता है। इसमें एक दिन की कथा का ही गुम्फन किया जाता है। इसमें विशेष ध्यान यह है कि नारी को लेकर युद्ध नहीं किया जाता। इसकी वस्तु में गर्भ और विमर्श सन्धियों का समावेश नहीं किया जाता है। इसमें शृंगार, हास्य और शान्त रसों तथा कैशिकी वृत्ति का विधान नहीं किया जाता। भास का 'मध्यम व्यायोग' इसका अच्छा उदाहरण है।

(5) समवकार—रूपक की इस विधा के लिए तीन अंकों का विधान किया गया है। इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है। मुख्यतः देवासुरों से सम्बद्ध होती है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें नायकों की संख्या बारह तक हो सकती है और प्रत्येक नायक को अपने-अपने अनुरूप कार्य का फल प्राप्त होता है। नायक धीरोदात्त होता है, चाहे वह देव या दानव ही क्यों न हो। इसमें वीर-रस की प्रधानता होती है। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं किया जाता। बिन्दु और प्रवेशक का विधान नहीं किया जाता। इसमें विमर्श सन्धि का प्रयोग भी नहीं किया जाता। कतिपय आचार्यों के अनुसार इसमें केवल छत्तीस घड़ी में (चौदह पन्द्रह घण्टे) घटित घटना को ही प्रस्तुत किया जाता है। 'समुद्र मन्थन' ग्रन्थ इसका उदाहरण है।

(6) डिम—रूपक के इस भेद में चार अंकों का समायोजन किया जाता है। इसकी कथावस्तु पौराणिक होती है। नायक धीरोद्धत होता है। इसमें सोलह तक नायक हो सकते हैं। कथावस्तु में विमर्श सन्धि का विधान नहीं किया जाता। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक भी नहीं होते। पात्र देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत पिशाच आदि होते हैं। इसमें रौद्र रस प्रधान होता है। शृंगार, हास्य और शान्त रसों तथा कैशिकी वृत्ति का इसमें विधान नहीं किया जाता। दृश्य विधान में उल्कापात, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, माया, इन्द्रजाल आदि की प्रधानता होती है। 'त्रिपुरदाह' इसका उदाहरण है।

(7) ईहामृग—रूपक के इस भेद में चार अंकों का गठन किया जाता है। इसमें नायिका को लेकर कथानक अग्रसर होता है। इसकी कथावस्तु प्रख्यात एवं

कल्पित होती है अर्थात् ईहामृग की कथावस्तु मिश्रित होती है। इसमें केवल तीन हीं—मुख, प्रतिमुख और निर्वहण-सन्धियों का विधान किया जाता है। इसमें नायक एवं प्रतिनायक के द्वन्द्व को प्रस्तुत किया जाता है किन्तु युद्ध नहीं होता। द्वन्द्व का कारण कोई अलभ्य दिव्य सुन्दरी होती है जिसे नायक प्राप्त करना चाहता है किन्तु साथ ही प्रतिनायक भी उस पर अनुरक्त होता है। इस कारण युद्ध की सम्भावना तो बनती है किन्तु अन्त में युद्ध टल जाता है। नायक भी नायिका को प्राप्त नहीं कर पाता। शृंगार रस की प्रधानता रहती है। नायक धीरोद्धत होता है।

(8) अंक—रूपक की इस विधा में केवल एक अंक होता है। इसका कथानक प्रख्यात होता है किन्तु नाटककार अपनी कल्पना के आश्रय से उसे विस्तार प्रदान करता है। इसका नायक प्राय: साधारण या सामान्य जन ही होता है। इसमें नारियों के करुण विलाप को प्रमुखता से अंकित किया जाता है। करुण रस की प्रधानता होती है और शोक स्थायी भाव से सम्बद्ध समस्त सचारियों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं का सम्यक् चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। इसमें भारती वृत्ति का विशेष विधान किया जाता है। इसमें लेखक वाचिक युद्ध का दृश्य भी प्रस्तुत करता है। इसमे यथास्थान यथावश्यकता निर्वेद सूचक वचनों को भी रखा जाता है।

(9) वीथी—रूपक की इस विधा को एक ही अंक में समायोजित किया जाता है। इसकी कथावस्तु उत्पाद्य या काल्पनिक होती है। इसका कलेवर भाण से मिलता-जुलता होता है। इसके नायक के लिए कोई निश्चित विधान नहीं पाया जाता, फिर भी अधिकतर इसमे मध्यम कोटि के नायक का चयन किया जाता है। इसमें पात्रों की अत्यधिक अल्प संख्या होती है अर्थात् एक दो पात्रों को लेकर ही वस्तु को अग्रसर किया जाता है। इसमें मनोविनोद, और आश्चर्यजनक उक्तियों को प्राधान्य दिया जाता है। आकाशभाषित जैसी उक्ति-प्रत्युक्तियों का विधान भी इसमें किया जाता है। इसकी वस्तु में मुख और निर्वहण सन्धियों का ही गुम्फन किया जाता है किन्तु अर्थप्रकृतियों में सभी की योजना निहित रहती है। इसमें कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है।

(10) प्रहसन—रूपक के इस भेद की कथावस्तु कल्पित होती है। इसे एक ही अंक में गठित किया जाता है। वस्तु में केवल मुख और निर्वहण सन्धियाँ ही रखी जाती है। इसमें हास-परिहास की प्रधानता रहती है। संस्कृत आचार्यों के अनुसार प्रहसन के तीन रूप होते हैं—(1) शुद्ध, (2) विकृत और (3) संकर। शुद्ध प्रहसन का नायक कोई सन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित होता है। विकृत प्रहसन का नायक नपुंसक, कचुकी अथवा कोई कामुक व्यक्ति होता है और संकर प्रहसन का नायक धूर्त व्यक्ति होता है। प्रहसन की प्रमुख विशेषता यह होती है कि उसके

निष्कर्ष में कोई न कोई उपदेश निहित रहता है। यह हिन्दी साहित्य में प्रचलित प्रहसन और अंग्रेजी साहित्य की 'कॉमेडी' के समकक्ष है।

(2) उपरूपक

उपरूपक और रूपक में यह अन्तर है कि रूपक नाट्य है और उपरूपक नृत्य। नाट्य रसाश्रय हुआ करता है और नृत्य भावाश्रय। भरतमुनि ने दस रूपकों का विवरण तो दिया है किन्तु उपरूपकों का कोई संकेत नहीं दिया है। विद्वानों का अभिमत है कि परवर्ती नाट्याचार्यों—कोहल, शारदातनय आदि—ने उपरूपकों को दृश्य काव्य में स्थान दिया है। दशरूपककार धनञ्जय ने उपरूपकों को नृत्य-भेद बताते हुए भावाश्रय बताया है; यथा :—

> डोम्बी श्रीगदितं भाणो, भाणी प्रस्थानरासकाः।
> काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥
>
> (दशरूपक अवलोक 1/8)

कविराज विश्वनाथ ने शारदातनय के भावप्रकाश के आधार पर अठारह उपरूपकों का विवरण प्रस्तुत किया है :—

> नाटिका त्रोटक गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
> प्रस्थानोल्लाप्य काव्यानि प्रखणं रासकं तथा ॥
> सलापकं श्रीगदित शिल्पकं च विलासिका।
> दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च ॥
> अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।
> विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्य नाटकवन्मतम् ॥
>
> (सा. दर्पण—6/4,5,6)

अर्थात्—उपरूपक के अठारह भेदों का निरूपण मनीषियों ने किया है जो इस प्रकार है :—(1) नाटिका, (2) त्रोटक, (3) गोष्ठी, (4) सट्टक, (5) नाट्यरासक, (6) प्रस्थान, (7) उल्लाप्य, (8) काव्य (9) प्रेंखण (10) रासक (11) सलापक (12) श्रीगदित, (13) शिल्पक (14) विलासिका, (15) दुर्मल्लिका, (16) प्रकरणी, (17) हल्लीश और (18) भाणिका। इन सभी प्रकारों का सामान्य स्वरूप या लक्षण वही होता है जो 'नाटक' नामक प्रकार का हुआ करता है।

दशरूपककार का अभिमत है कि नाट्य और नृत्य में यह अन्तर होता है कि नाट्य में चतुर्विध अभिनय—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—की अपेक्षा रहती है, जबकि नृत्य में आंगिक अभिनय का बाहुल्य रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूपकों के लिए चार प्रकार के अभिनय की और उपरूपकों के लिए एक अभिनय की अपेक्षा रहती है किन्तु आजकल नृत्य या उपरूपक के लिए वाचिक को छोड़

शेष तीनों प्रकार के अभिनय की अपेक्षा पर बल दिया जाता है। विश्वनाथ ने नाटकों के नामकरण के प्रसंग में नाटिकादि के नाम नायिका के नाम पर रखने का सुझाव दिया है, यथा —नाटिक सट्टकादीना नायिकाभिविशेषणम्।

(1) नाटिका[1]—नाटिका का इतिवृत्त कल्पित होना है। इसमें नारी पात्रों का बाहुल्य होता है। इसमे अधिकाधिक चार अंक होने चाहिए। धीर ललित राजा इसका नायक होता है। नायिका अन्तःपुर स्थिता, संगीत निपुणा, नवानुरागवती, राजकुलोत्पन्ना कन्या होनी चाहिए। इसमें राजा नायक को राजमहिषी के भय से अनुविद्ध दिखाया जाना चाहिए। उसी की अनुकम्पा से नायक-नायिका का प्रेम मिलन वर्णित किया जाना चाहिए। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य तथा अल्पमात्र विमर्श सन्धि के साथ सन्धि-चतुष्टय का विधान किया जाना चाहिए।

(2) त्रोटक—त्रोटक की रचना पाँच, सात, आठ अथवा अधिकाधिक नव अंकों में की जानी चाहिए। इसमे देव और मानव दोनों से सम्बद्ध मिश्र इतिवृत्त होना चाहिए। इसके प्रत्येक अंक मे विदूषक की उपस्थिति रहनी चाहिए।

(3) गोष्ठी—इसमें नौ-दस साधारण श्रेणी के पात्रों का चित्रण किया जाता है। इसमे उदात्त वचनो का अभाव तथा कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य रहता है। पाँच या छह स्त्री पात्रो का भी विधान रहता है। इसमे एक अंक होता है और गर्भ तथा विमर्श सन्धि का अभाव रहता है।

(4) सट्टक—सट्टक की समस्त रचना प्राकृत भाषा मे की जाती है। इसमे न प्रवेशक होता है और न ही विष्कम्भक ही। अद्भुत रस प्रधान रस होता है। इसमें अंकों का नाम जवनिका होता है। शेष विशेषताएँ नाटिका जैसी ही होती हैं।

(5) नाट्यरासक—नाट्यरासक मे एक अंक होता है। इसमें लय और ताल का विशेष ध्यान रखा जाता है। शृंगार रस के योग मे हास्य रस की प्रधानता रहती है। नायक के साथ 'पीठमर्द' पात्र का भी विधान रहता है। नायिका 'वासकसज्जा' होती है। इसमे मुख और निर्वहण सन्धि का ही विधान किया जाता है। 'लास्य' के दस अंग अपेक्षित हैं।

(6) प्रस्थानक—इसमें नायक भृत्य होता है और उपनायक हीन श्रेणी का पात्र होता है। नायिका दासी होती है तथा इसमे कैशिकी और भारती वृत्तियो का प्रयोग किया जाता है। इसमे लय, ताल और संगीत की प्रधानता होती है और समाप्ति मदिरापान के साथ होती है। इसमे दो अंक होते हैं।

(7) उल्लाप्य—इसका नायक उदात्त वृत्ति का पात्र होता है। इसमें देव-सम्बद्ध इतिवृत्त होना है तथा एक अंक होता है। इसमे आशसादि अंक निबद्ध किये

1 उपरूपक के समस्त लक्षण 'साहित्य दर्पण' के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं।

जा सकते हैं। इसमे नेपथ्य गीत का आश्रय लिया जाता है। शृगार, हास्य, करुण रसों में से किसी एक रस की प्रधानता होती है। रोचकता के लिए संग्राम का भी विधान किया जाता है। इसमें नायिकाएँ चार होती हैं।

(8) काव्य—काव्य उपरूपक मे हास्य की प्रधानता रहती है। इसमे आरभटी वृत्ति को छोड़कर शेष तीन वृत्तियों का विधान अपेक्षित है। इसमे एक अक होता है तथा गीतो के खण्ड मात्र, द्विपदिका, भग्नताल आदि भेदों का समावेश आवश्यक होता है। इसमें वर्णमाला और छुड्डिका जैसे छन्दो से रोचकता आती है। नायक-नायिका उदात्त वृत्ति के होते हैं। इसमें मुख और निर्वहण दो ही सन्धियो का विधान होता है।

(9) प्रेंखण—इसका नायक नीच प्रकृति का व्यक्ति होता है। इसमे गर्भ और विमर्श सन्धियो का अभाव रहता है। इसमे एक अक होता है और सूत्रधार की आवश्यकता नही होती और न ही प्रवेशक और विष्कम्भक होते। इसमे द्वन्द्व युद्ध एव सारोष भाषणो का विधान किया जाता है। इसमें सभी वृत्तियाँ अपेक्षित हैं।

(10) रासक—रासक की रचना एक अक मे की जाती है और प्राय पाँच पात्र होते हैं। 'मुख और निर्वहण' दो सन्धियो का ही विधान किया जाता है। इसमे 'भाषा और विभाषा' दोनों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। इसमे सूत्रधार नही होता किन्तु वीथी के सभी अ.ो की योजना की जाती है। इसकी नायिका कोई प्रसिद्ध रमणी तथा नायक मूर्ख होता है। इसमे नृत्य तथा गीतों की बहुलता रहती है। इसमे उत्तरोत्तर उदात्त भावों का विन्यास किया जाता है।

(11) संलापक—सलापक का रचना-विधान तीन या चार अंको में किया जाता है। इसका नायक कोई पाखण्डी व्यक्ति होता है। इसमे शृगार और करुण रस को छोडकर अन्य किसी भी रस को प्रधान रस के रूप मे चित्रित किया जा सकता है। इसमें पुर-अवरोध, छल, प्रपच, संग्राम भ्रम-संभ्रम आदि का विधान किया जाता है। इसमें भारती और कैशिकी वृत्तियाँ अपेक्षित नही होती।

(12) श्रीगदित—श्रीगदित उपरूपक का इतिवृत्त प्रख्यात होता है। इसका रचना-विधान एक अक मे किया जाता है। इसका नायक प्रख्यात एव धीरोदात्त होता है और नायिका भी प्रख्यात होनी चाहिए। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नही होती। इसमे भारती वृत्ति का बाहुल्य रहता है। इसमें 'श्री' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है। इसीलिए इसे 'श्रीगदित' कहा जाता है।

(13) शिल्पक—शिल्पक उपरूपक में चारों वृत्तियों से संवलित चार अक होते हैं। इसमे शान्त और हास्य को छोडकर अन्य शेष रसों की अभिव्यञ्जना की जा सकती है। इसका नायक ब्राह्मण पुरुष होता है। इसमें श्मशानादि का चित्रण किया जाता है। इसका उपनायक अधम प्रकृति का व्यक्ति होता है। इसमें सत्ताईस

अर्थों का समावेश होता है जो इस प्रकार हैं—(1) आशंसा, (2) तर्क (3) सन्देह (4) ताप, (5) उद्वेग, (6) प्रसवित, (7) प्रयत्न, (8) गुम्फन, (9) उत्कण्ठा (10) अवहित्था, (11) प्रतिपत्ति, (12) विलास, (13) आलस्य, (14) वाष्प, (15) प्रहर्ष, (16) आश्वास, (17) मूढता, (18) साधनानुगम, (19) उच्छ्वास, (20) विस्मय, (21) प्राप्ति, (22) लाभ, (23) विस्मृति, (24) सफेट, (25) वैशारद्य, (26) प्रबोधन और (27) चमत्कृति।

(14) विलासिका—इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है और एक अंक का विधान किया जाता है। इसमें लास्य के दसों अंगों का प्रयोग अपेक्षित है। इसमें पीठमर्द, विट और विदूषक पात्रों की योजना आवश्यक है। इसका नायक अधम प्रकृति का व्यक्ति होता है। इसमें इतिवृत्त की मात्रा कम होती है। वेश-भूषा पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं।

(15) दुर्मल्लिका—इसमें चार अंक होते हैं जो भारती एवं कैशिकी वृत्तियों से सवलित होते हैं। इसका प्रथम अंक छह घड़ी का होता है और विट की क्रीडाओं का प्रदर्शन होता है। इसमें समस्त पात्र कला-कुशल होते हैं किन्तु नायक अधम श्रेणी का व्यक्ति होता है। इसमें विदूषक की लीलाएँ प्रचुर मात्रा में होती हैं। तीसरे अंक में पीठ मर्द और चौथे अंक में नायक की क्रीडाओं प्रदर्शन होता है।

(16) प्रकरणिका—प्रकरणिका लगभग नाटक का एक भेद होता है, जिसमें नायक के रूप में सार्थवाह (सेठ) की क्रीडाओं का प्रदर्शन किया जाता है। नायिका उसी की जाति की कोई स्त्री होती है।

(17) हल्लीश—हल्लीश में एक अंक और सात से दस तक स्त्रीपात्र होते हैं। इसका नायक उदात्त वाणी का होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। इसमें 'मुख और निर्वहण' केवल दो ही सन्धियों का योग पर्याप्त है। इसमें राग, ताल, लय, आदि की प्रचुरता रहती है।

(18) भाणिका—भाणिका में एक अंक होता है और उसमें कैशिकी तथा भारती वृत्तियों की ही योजना की जाती है। इसमें सुन्दर नेपथ्य की रचना पर विशेष ध्यान दिया जाता है और मुख और निर्वहण सन्धियों का ही विधान किया जाता है। नायिका उदात्त प्रकृति की रमणी होती है और नायक नीच वंशोद्भव व्यक्ति होता है। इस प्रकार सात नाट्यांगों का विधान किया जाता है जिन्हें 'अंगसप्तक' कहा जाता है। ये इस प्रकार हैं—(1) उपन्यास, (2) विन्यास, (3) विबोध, (4) साध्वस, (5) समर्पण, (6) निवृत्ति और (7) संहार।

नाटक

'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर संस्कृत आचार्यों ने नाटक विधा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय काव्य-शास्त्र का उद्गम

ही नाटक को लेकर हुआ है। अब तक उपलब्ध ग्रन्थों में भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र ही भारत की प्राचीनतम काव्य-शास्त्र-कृति मानी जाती है। [illegible] है कि उक्त ग्रन्थ मे नाटक विधा का सांगोपाङ्ग चित्रण प्रस्तुत [illegible] है। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि भरतमुनि के समय तक नाटक साहित्य अपने पूर्ण यौवन को प्राप्त कर चुका होगा, क्योंकि लक्ष्य ग्रन्थो के आधार पर ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया जाता है। जब भरतमुनि अपने नाट्य-शास्त्र की रचना कर रहे होंगे, तब निश्चित रूप से उनके समक्ष अनेक उत्कृष्ट कोटि के नाटक रहे होंगे और अभिनय की विभिन्न शैलियो का सूत्रपात हो चुका होगा, जिन्हें भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ में व्यवस्थित रूप से अंकित कर दिया होगा।

जहाँ तक काव्य की अन्य विधाओं की तुलना मे नाटक की रमणीयता का प्रश्न है, वह सकारण है। कारण स्पष्ट है कि पाठ्य ग्रन्थों से आनन्द-लाभ के लिए पाठक का सुशिक्षित एवं साक्षर होना आवश्यक है, जबकि नाटक का आनन्द शिक्षित एवं अशिक्षित, साक्षर अथवा निरक्षर कोई भी व्यक्ति प्रेक्षागृह मे जाकर मञ्चित होते नाटक को देखकर प्राप्त कर सकता है। दूसरे, रूपक विधा के अतिरिक्त काव्य की अन्य विधाओं से सुख प्राप्त करने के लिए सहृदय सामाजिक मे उर्वरा कल्पना शक्ति का होना आवश्यक है। उसे भावानुरूप वातावरण की कल्पना स्वयम् करनी पड़ती है। कविता आदि में या तो वातावरण की रचना ही नही की जाती या फिर प्रबन्धादि काव्यों व उपन्यासों आदि मे वातावरण का निर्माण किया हुआ होता भी है तो उसके स्वरूप की कल्पना तो पाठक या श्रोता को करनी ही होती है। उदाहरण के लिए किसी प्रबन्ध काव्य मे जैसलमेर के मरुस्थल का चित्रण है। उसमें ऊँचे-ऊँचे टीलों, खेजड़ियों, फिपोलियों आदि के साथ ऊँटों, टीलों पर दृष्ट मरीचिकाओं आदि का चित्रण है किन्तु जब किसी पाठक या श्रोता ने उक्त वस्तुओं स्थानों, द्रुमों आदि का अवलोकन ही नही किया है तो वह उनके स्वरूप की कल्पना ही कर सकेगा जबकि नाटक में उपर्युक्त समस्त वातावरण उसकी आँखों के सामने होगा। फलतः उसमे प्रमाता सहज भाव से अपने चित्त को रमा सकने मे समर्थ होगा। इसी प्रकार राजा, रंक, मन्त्री, सासद, सचिवालय, नेतृत्व वर्ग एव उनके कृत्य आदि नाटक मे नेत्र-गोचर होने के कारण अधिक प्रभावोत्पादक होंगे अपेक्षाकृत श्रव्य काव्य में अंकित वर्णनों एवं विवरणों के। अतः स्पष्ट है कि नाटक लोक-प्रियता मे काव्य-समुदाय की अग्रणी विधा है। आज के वैज्ञानिक युग मे फिल्मो की लोक-प्रियता का यही रहस्य है। यह दूसरी बात है कि फिल्में अभी साहित्य मे अपना उपयुक्त स्थान नही बना पायी हैं। नाटक की लोकप्रियता का तीसरा कारण उसमे संगीत का सन्निवेश भी है। यद्यपि आजकल नाटकों मे गीतों का बहिष्कार कर दिया गया है किन्तु जिस समय यह उक्ति कही गयी थी, उस समय नाटकों मे पद्य एव संगीत को भी समाहित किया जाता था और आजकल फिल्मों मे

तो गीत सम्बद्ध चित्र के प्राण होते हैं । चौथे, नाटक में अतीत और भविष्य को वर्तमान के रूप में प्रत्यक्ष कराया जाता है जिसके प्रवाह में दर्शक-समाज निमग्न हो जाता है । पाँचवें, सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिक बात यह है कि किसी दृश्य को आँखों से देखने पर दर्शक जितना अधिक द्रवित हो उठेगा, उतना अधिक वह उस दृश्य के श्रवण मात्र से द्रवित नहीं होगा । शैब्या और रोहिताश्व या हरिश्चन्द्र से सम्बद्ध काव्य में हमें इतना प्रभावित नहीं करेगा, जितना नाटक में उनका प्रत्यक्ष अवलोकन प्रभावित करेगा । उसमें सत्यता की मात्रा बढ़ जाती है । इसीलिए तो कहा जाता है कि 'आँखों देखी परसराम कदै न झूठी होय ।'

उपर्युक्त कारणों के आधार पर प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों में नाटकों का बोलबाला रहा है ।

हिन्दी नाटक साहित्य का उद्गम उस समय हुआ, जब हम भारतीय नाटकों और अंग्रेजी नाटकों का समान रूप से आस्वादन कर रहे थे । हमारे प्रारम्भिक नाटक भारतीय काव्य-शास्त्र की छाया में जन्मे और पले । हिन्दी में नाटक-लेखन का प्रादुर्भाव भारतेन्दुकाल में हुआ था । उस समय हमारे लेखकों पर भारतीय काव्य-शास्त्र का अनुशासन था किन्तु इसका विकास प्रसाद-युग में हुआ और प्रसादयुगीन नाटककारों की कृतियों पर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी । इसके पश्चात् तो हिन्दी साहित्य ने अपने स्वतन्त्र स्वरूप का निर्धारण कर लिया । इस क्षेत्र में मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्र नाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने नाटक विधा पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया है और उसके प्रत्येक अवयव का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है । प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन आचार्य नाटक के चार प्रमुख तत्त्व मान कर चलते थे; यथा—(1) वस्तु, (2) नेता, (3) रस, और (4) अभिनय ।

(1) वस्तु—कथावस्तु को लेकर भारतीय मनीषियों ने अत्यधिक विस्तार में विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया है तथा अनेक दृष्टिकोणों से उसके भेद-प्रभेद भी किये हैं । इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने वस्तु को चार आधारों पर विवेचित किया है—(1) इतिवृत्त के आधार पर, (2) अधिकारी या नायक के आधार पर, (3) अभिनय के आधार पर, और (4) संवाद के आधार पर ।

(1) इतिवृत्त या स्रोत के आधार पर

इतिवृत्त या स्रोत के आधार पर कथावस्तु को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—(क) प्रख्यात (ख) उत्पाद्य, और (ग) मिश्र ।

(क) प्रख्यात—प्रख्यात इतिवृत्त से तात्पर्य किसी ऐसे महापुरुष के जीवन

ग्रथवा जीवन की घटनाग्रों से है, जो लोक-विश्रुत ग्रौर ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुष रहा हो, जन-समुदाय जिसे मार्गदर्शक ग्रौर पूज्य मानता हो तथा जिसका जीवन-चरित, मानव-जीवन की विभिन्न ग्रवस्थाग्रों का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता हो। प्रख्यात इतिवृत्त के प्रमुख पात्र इस प्रकार के होते हैं कि उनके जन्म, मृत्यु एवं कृत्यों की पुष्टि इतिहास, पुराण ग्रथवा जनश्रुति द्वारा की जा सके।

(ख) उत्पाद्य—'उत्पाद्य' इतिवृत्त से तात्पर्य कल्पित कथावस्तु से होता है। नाटककार समाज का एक प्रमुख ग्रंग होता है। वह सामाजिक कार्य-कलापों का अपनी पारदर्शी दृष्टि से निरीक्षण एवं परीक्षण करता है ग्रौर उनकी ग्रच्छाइयों ग्रथवा बुराइयों का लेखा-जोखा रखता है। उन्ही कार्य-कलापों की सम्यक् ग्रभिव्यक्ति के लिए वह इतिवृत्त एवं पात्रों की कल्पना करता है। ऐसे इतिवृत्त की पुष्टि इतिहास से नही होती। ऐसे नाटकों में वर्णित विचार या भाव तो सामाजिक जीवन मे घटित हुए हैं ग्रथवा घटित हो सकते हैं, ग्रतः सत्य होते है किन्तु उनमें प्रस्तुत घटनाग्रों एवं पात्रों के नाम-रूपों का कहीं ग्रस्तित्व नहीं होता। वे केवल सम्बद्ध नाटक में ही उपलब्ध होते हैं तथा कवि-मस्तिष्क की उपज होते हैं। इसी ग्राधार पर इस प्रकार के इतिवृत्त को उत्पाद्य या काल्पनिक कथावस्तु के नाम से ग्रभिहित किया जाता है।

(ग) मिश्र—मिश्र कथावस्तु मे इतिहास-प्रसिद्ध प्रख्यात इतिवृत्त ग्रौर कवि-कल्पित कथानक का सम्यक् सम्मिश्रण इस प्रकार किया जाता है कि उसके गठन में कही भी ग्रवरोध नही ग्रा पाता ग्रौर क्रमबद्ध रूप मे ग्रपने फल की ग्रोर ग्रग्रेसर होता है। इसे यों कहा जा सकता है कि मुख्य कथावस्तु की कुछ घटनाएँ ऐतिहासिक ग्रथवा पौराणिक होती हैं ग्रौर कुछ घटनाग्रो की नाटक में रोचकता लाने के लिए लेखक कल्पना कर लेता है। उक्त दोनो प्रकार के इतिवृत्तों का योग होने के कारण इस प्रकार की कथावस्तु को मिश्र कथावस्तु कहा जाता है।

(2) ग्रधिकारी या नेता के ग्राधार पर

ग्रधिकारी ग्रथवा नेता के ग्राधार पर भी नाटक की कथावस्तु का विभाजन किया जाता है। इस ग्राधार पर कथावस्तु को दो भागों में विभाजित किया जाता है—(क) ग्राधिकारिक कथावस्तु ग्रौर (ख) प्रासंगिक कथावस्तु।

(क) ग्राधिकारिक कथावस्तु—नाटक के फल को ग्रधिकार कहा जाता है ग्रौर उस फल के उपभोक्ता को ग्रधिकारी कहा जाता है। फलतः ग्रधिकारी के जीवन से सम्बद्ध कथावस्तु को ग्राधिकारिक कथावस्तु के नाम से ग्रभिहित किया जाता है। इसे यो भी स्पष्ट किया जा सकता है कि जो कथावस्तु नायक या नेता का ग्रश्रय लेकर चलती है तथा जो नाटक के प्रारम्भ से लेकर ग्रन्त तक ग्रबाध गति से चलती है, उसे ग्राधिकारिक कथावस्तु कहा जाता है। उदाहरणार्थ प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त का जीवन-वृत्त ग्राधिकारिक कथावस्तु के ग्रन्तर्गत परिगणित होगा।

(ख) प्रासंगिक कथावस्तु—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है। वह चाहे राजा हो अथवा रंक, उसका जीवन समाज-निरपेक्ष नहीं रह सकता। फलतः नेता के जीवन से सम्बद्ध कथानक के विकास के लिए अन्य छोटी-बड़ी घटनाओं का समावेश नाटककार को अपने नाटक में करना पड़ता है। उनके बिना आधिकारिक कथावस्तु का विकास सम्भव नहीं हो पाता। फलतः उन समस्त छोटे-बड़े कथानकों को समवेत रूप में प्रासंगिक कथावस्तु कहा जाता है। प्रासंगिक कथावस्तु के भी दो भाग होते हैं। एक प्रासंगिक कथा-वस्तु, जो प्रायः प्रतिनायक से सम्बद्ध होती है, आधिकारिक कथावस्तु के प्रारम्भ होने के कुछ पश्चात् प्रारम्भ होती है तथा आधिकारिक कथावस्तु की समाप्ति से पूर्व ही समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य घटनाओं का भी यथावश्यकता और यथास्थान नाटककार संयोजन करता रहता है जो अपना कार्य पूर्ण कर समाप्त होती रहती हैं। इन सब कथानकों को समवेत रूप में प्रासंगिक कथावस्तु कहा जाता है।

(3) अभिनय के आधार पर

जीवन एक रहस्यमय प्रक्रिया होता है। उसमें अनेक प्रकार की घटनाएं घटित होती रहती है। उनमें से कुछ ऐसी भी घटनाएँ होती हैं, जिनका मञ्च पर अभिनय करना अनुचित, अनैतिक अथवा अमंगलकारी होता है किन्तु दर्शकों अथवा पाठकों को इनकी सूचना देना भी अनिवार्य होता है। फलतः इस आधार पर वस्तु के दो भेद किये जाते हैं—(क) दृश्य एवं (ख) सूच्य।

(क) दृश्य कथावस्तु—नाटक में संजोयी गयी प्रायः समस्त कथावस्तु दृश्य होती है और अनुकर्ता अपने अभिनय एवं संवादों के माध्यम से उसे दृश्य करते हैं वस्तुतः वस्तु का दृश्य भाग ही उसका महत्त्वपूर्ण अंग होता है किन्तु सूच्य कथावस्तु का भी अपना महत्त्व होता है।

(ख) सूच्य—प्राचीन आचार्यों ने अत्यन्त विचार-विमर्श के पश्चात् कुछ ऐसे स्थलों और घटनाओं की सूची प्रस्तुत की है, जिन्हें मञ्च पर दिखाना वर्जित बताया गया है। उनमें से कुछ स्थलों एवं घटनाओं के प्रदर्शन को तो आज के विज्ञान ने सुलभ बना दिया है किन्तु फिर भी कुछ तथ्यों की सूचना तो देनी ही पड़ती है उसके लिए आचार्यों ने पाँच प्रकार के साधनों का विधान किया है; यथा—(i) विष्कम्भक, (ii) प्रवेशक, (iii) चूलिका, (iv) अंकमुख या अंकास्य और (v) अंकावतार।

· (i) विष्कम्भक—विष्कम्भक में मध्यम अथवा अधम श्रेणी के पात्र आते हैं यथा—पुरोहित, अमात्य, कञ्चुकी, ग्रामीण आदि। विष्कम्भक संस्कृत नाटकों में मुखसन्धि की घटनाओं की सूचना देने का कार्य करता है। अनेक बार भविष्य में घटित होने की सम्भावनाओं की सूचना भी विष्कम्भक द्वारा ही प्रेषित की जाती है ऐसे दृश्य नाटक के प्रारम्भ अथवा प्रारम्भिक अंकों के मध्य में आते हैं।

(ii) **प्रवेशक**—प्रवेशक में अधम श्रेणी के पात्र होते है। वे बोल-चाल की भाषा में रंगमञ्च पर वर्जित घटनाओं की सूचना देते है। ये पात्र दो अंकों के मध्य में अथवा नाटक या प्रकरण के मध्य में आते है। उस अंश को प्रवेशक कहा जाता है।

(iii) **चूलिका**—चूलिका में पात्र रगमञ्च पर उपस्थित न होकर पर्दे के पीछे से अतभिनय अथवा अन्य आवश्यक सूचना देते है। ये पात्र उत्तम, मध्यम अथवा अधम किसी भी श्रेणी के हो सकते हैं।

(iv) **अंकमुख या अंकास्य**—जहाँ किसी एक अक की समाप्ति पर आगे आने वाले अक की कथा की सूचना दी जाती है, वहाँ अकमुख या अकास्य होता है।

(v) **अंकावतार**—जहाँ पहले अंक में अभिनय करने वाले पात्र रगमञ्च ने बाहर जाकर पुनः रंगमञ्च पर उपस्थित होकर अगले अक की कथा की सूचना देते हैं, वहाँ अंकावतार होता है।

(4) अभिनय के आधार पर

नाटक की कथावस्तु का विस्तार सवादों के माध्यम से किया जाता है। फलतः संवादों के अनेक रूप होने के कारण कथावस्तु का स्वरूप भी उतने ही प्रकार का हो जाता है। इसके प्रमुख तीन भेद है—(क) सर्वश्राव्य, (ख) अश्राव्य और (ग) नियत श्राव्य।

(क) **सर्वश्राव्य**—कथा का वह भाग जिससे सम्बद्ध सभी संवाद सभी जनों के सुनने के लिए कहे जाते हैं, उसे सर्वश्राव्य कथावस्तु या सर्वश्राव्य कथोपकथन कहा जाता है।

(ख) **अश्राव्य**—कथावस्तु का वह भाग जो सबके सुनने के लिए नही होता अश्राव्य कथावस्तु या कथोपकथन कहलाता है। इसे ही स्वगत कथन कहा जाता है। वस्तुतः कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिनका उत्थान-पतन व्यक्ति के अन्तःकरण में होता है। उसे केवल पात्र-विशेष ही जान सकता है, अन्य व्यक्ति नहीं किन्तु नाटककार के लिए यह भी आवश्यक है कि पात्र-विशेष के आन्तरिक द्वन्द्व से दर्शकों को अवगत कराया जाए। इसके लिए स्वगत कथन ही एकमात्र उपाय है। इसीलिए संस्कृत नाट्याचार्यों ने नाटकों मे स्वगत कथन का विधान किया है। आजकल नाटकों मे स्वगत कथन को अस्वाभाविक माना जाता है और ऐसे कथनो को नाटको में स्थान नही दिया जाता। इसके लिए एक यह रास्ता निकाला गया है कि पात्र के अन्तर्द्वन्द्व को प्रदर्शित करने के लिए उसके किसी अन्तरंग मित्र पात्र की कल्पना कर ली जाती है, जिसके सामने वह अपनी गोपनीय से भी गोपनीय बात कह सके और अपने अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त कर सके। इतना होने पर भी स्वगत कथन की अनिवार्यता को नकारा नही जा सकता। अतः सुझाव यह है कि वस्तु के गोपनीय

या अन्तर्द्वन्द्वात्मक भाग स्वगत कथन के द्वारा वस्तु का विकास किया जाना चाहिए किन्तु स्वगत कथनों की भरमार नाटक में नहीं होनी चाहिए। अत्यन्त आवश्यक एवं परम गोपनीय चिन्तन को स्वगत कथन के माध्यम से व्यक्त करना चाहिए। आजकल फिल्मों में ऐसे प्रयोग देखे जा सकते हैं।

(ग) नियत श्राव्य—नियत श्राव्य वस्तु का वह अंश होता है जो कुछ पात्रों को कहा जाना है और कुछ को नहीं। इसकी व्यवस्था दो प्रकार से की जाती है, जिन्हें क्रमशः अपवारित और जनान्तिक कहा जाता है। अपवारित में एक पात्र उन पात्र के पास जाकर, जिसे कुछ कहना हो, अपनी बात कह देता है। यह कोई गोपनीय या गूढ़ बात होती है। इसमें ऐसा प्रदर्शित किया जाता है कि पात्र ने अमुक बात पात्र के कान में कही है। जनान्तिक में जिसके सामने बात न कहनी हो, उसकी ओर बीच की तीन अँगुलियाँ मुख पर लगा कर कह दी जाती है और इससे यह भाव प्रकट किया जाता है कि उक्त कथन को केवल दर्शकों ने ही सुना है, मञ्च पर उपस्थित अन्य पात्रों ने नहीं सुना है। इस प्रकार के कथन को आजकल अत्यन्त अस्वाभाविक माना जाता है और इन व्यवस्थाओं का परित्याग कर दिया गया है। इन दो के अतिरिक्त एक आकाशभाषित भी होता है, जो दूरस्थ अनुपस्थित पात्र के लिए कुछ कहा जाता है। आजकल ऐसे संवादों को भी त्याग दिया गया है।

कथावस्तु-संगठन

प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने कथावस्तु के सम्यक् संगठन पर अत्यधिक बल दिया है। उनके अनुसार सुसंगठित कथावस्तु ही नाटक को रोचक बना सकती है। संगठन के अभाव में बिखरी हुई घटनाएँ 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा' की कहावत को ही चरितार्थ करेंगी। दूसरे, गठन के अभाव में वस्तु एवं कार्य के उत्थान-पतन से दर्शकों के मनोवेगों में जो त्वरा अथवा आन्दोलन होना चाहिए, वह नहीं हो पाएगा। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने अनेक नियमों का विधान किया है। उनके अनुसार वस्तु के सम्यक् संगठन के लिए कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और संधियों का नाटककार को सम्यक् एवं सुचारु विधान करना चाहिए। उन्होंने इन तीनों के पाँच-पाँच भेद किये हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

कार्यावस्थाएं

नाटक एक साहित्यिक विधा है और इसकी रचना का कोई न कोई उद्देश्य होता है। इसी उद्देश्य को नाटक में फल कहा जाता है। नाटक का मुख्य या मूल पात्र अर्थात् नायक उस फल को प्राप्त करता है। उसी फल की प्राप्ति के लिए किया गया व्यापार कार्य कहलाता है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में इसे एक्शन (Action) कहते हैं। इस व्यापार के विस्तार को पाँच भागों में विभाजित कि

गया है। इसी विभाजन को नाटक की वस्तु की कार्यावस्थाएँ कहा जाता है। उक्त पाँच भेद इस प्रकार हैं—(1) प्रारम्भ, (2) प्रयत्न, (3) प्राप्त्याशा, (4) नियताप्ति और (5) फलागम।

(1) प्रारम्भ

नाटक का प्रारम्भ इस प्रकार किया जाता है कि नायक को फल की झलक मिल जाती है और उसमें उस फल को प्राप्त करने की उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है। वस्तु का इतना अंश प्रारम्भ कार्यावस्था के अन्तर्गत आता है। उदाहरणार्थ, प्रसादजी के स्कन्दगुप्त नाटक को लिया जा सकता है जिसके प्रथम अंक में ही गृह-कलह, बर्बर हूणों के आक्रमण और सम्राट् की कामुकता आदि के कारण गुप्त साम्राज्य की स्थिति गम्भीर है और राष्ट्र का सम्मान संकट में है। नाटक के नायक स्कन्दगुप्त को इन समस्याओं के शमन की चिन्ता है। राष्ट्र के सम्मान की रक्षा ही नाटक का फल है। इसे प्रदर्शित कर लेखक ने 'प्रारम्भ' कार्यावस्था की सुन्दर स्थापना की है।

(2) प्रयत्न

फल का आभास हो जाने के पश्चात् नायक एवं उसके सहयोगी अन्य पात्र उस फल की प्राप्ति के लिए उद्योग प्रारम्भ कर देते हैं। इसी स्थिति में कथा का विस्तार होता है। नायक फल-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होने लगता है। स्कन्दगुप्त नाटक का द्वितीय अंक प्रयत्न कार्यावस्था का अच्छा उदाहरण है, जिसमें षड्यन्त्र-कारियों को बन्दी बनाना और स्वयं सिंहासनारूढ़ हो कर अपनी सेना को शक्तिशाली बनाना वर्णित है। इसे राष्ट्र को निरापद करने का प्रयत्न कहा जा सकता है।

(3) प्राप्त्याशा

प्राप्त्याशा कार्य की वह अवस्था होती है जिसमें फल प्राप्ति में बाधाएँ एवं आशंकाएँ आ उपस्थित होती हैं। ऐसी स्थिति में भी नायक दोलायमान नहीं होता और मार्ग में आने वाली बाधाओं का परिहार करने में तत्पर रहता है, जिससे उसे फल प्राप्ति की कुछ आशा बँधी रहती है। कार्य की इसी अवस्था को प्राप्त्याशा की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

(4) नियताप्ति

नियताप्ति कार्य की वह अवस्था होती है जिसमें फल प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं का पूर्णतया शमन हो जाता है और फल प्राप्ति का निश्चय हो जाता है परन्तु कार्य-व्यापार चलता रहता है।

(5) फलागम

फलागम कार्य की वह अवस्था होती है, जिसमें नाटक के उद्देश्य की सम्यक्

रूप से सिद्धि हो जाती है और सभी इच्छित फल प्राप्त हो जाते है। यथा—स्कन्दगुप्त की हूणों पर विजय, गृह-कलह का शमन और राष्ट्र के सम्मान की पूर्णतया रक्षा, जैसे कि खिगिल को वचनबद्ध कर कि वे कभी भारत पर आक्रमण नही करेंगे, मुक्त कर अपने देश मे भेज दिया जाता है। यही स्कन्दगुप्त नाटक का फल है।

अर्थ-प्रकृतियाँ

साहित्यदर्पणकार के अनुसार कार्य की सिद्धि के लिए जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है, उन्हे अर्थ-प्रकृतियाँ कहा जाता है। यथा—'अर्थप्रकृतयः पंच प्रयोजन-सिद्धि-हेतव'। इस प्रकार कार्य का फल नाटक का प्रयोजन है और अर्थ-प्रकृतियाँ उसकी सिद्धि की हेतु हैं। इमे यो भी स्पष्ट किया जा सकता है कि अर्थप्रकृतियाँ कथा-वस्तु के ही गौण अंग हैं, जो आधिकारिक कथावस्तु को कार्य की ओर अग्रसर होने में उसका सहयोग करते हैं। संस्कृत आचार्यों ने इसके भी पाँच भेद किये हैं; यथा—(1) बीज, (2) बिन्दु, (3) पताका, (4) प्रकरी और (5) कार्य।

(1) बीज

कार्य का वह हेतु जिसका प्रारम्भ कार्यावस्था मे वपन कर दिया जाता है। वह उस अवस्था मे अत्यन्त सूक्ष्म रूप में होता है किन्तु धीरे-धीरे उसका विस्तार होने लगता है। इसीलिए इस हेतु को 'बीज' नाम से अभिहित किया गया है क्योंकि जिस प्रकार किसी बीज का विस्तार अन्ततः एक विशालकाय वृक्ष के रूप में हो जाता है, उसी तरह नाटक के 'बीज' हेतु का विस्तार होता है। स्कन्दगुप्त नाटक मे जब स्कन्दगुप्त पूछता है—'अधिकार का उपयोग करें। वह भी किसलिए!' तब पर्णगुप्त अधिकारयुक्त वाणी मे उत्तर देता है—'किसलिए! त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, शिशुओ को हँसाने के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण, गौ की मर्यादा मे विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए। आपको अधिकारो का उपभोग करना होगा।' पर्णदत्त के इस कथन मे स्कन्दगुप्त नाटक के बीज का वपन हो जाता है।

(2) बिन्दु

आधिकारिक कथावस्तु का बीज के द्वारा सूत्रपात हो जाने पर कथा का जो भाग उसे विस्तार प्रदान करता है, उसे बिन्दु अर्थ-प्रकृति कहा जाता है। कथानक मे यह अंश तेल की बिन्दु के समान होता है, जो जल मे पड़ कर उस पर चारो ओर फैल जाता है। नाटक का यह अंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। स्कन्दगुप्त नाटक के प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य से बिन्दु अर्थ-प्रकृति का प्रारम्भ होता है, जहाँ मातृगुप्त का हूणो को आतंकित करना और गोविन्दगुप्त के सहसा आ जाने से हूणों का भाग जाना और मालव-विजय के अवान्तर प्रसंग का समावेश आदि राष्ट्र को निष्कण्टक बनाने के प्रयासों को 'बिन्दु' कहा जा सकता है, जो अन्त तक अधिक से अधिक विस्तृत होता चला जाता है।

(3) पताका

वस्तु-विभाजन के प्रसग में कथा-वस्तु के दो भेद किये गये थे, प्राधिकारिक एवं प्रासंगिक। यह प्रासंगिक कथावस्तु ही पताका अर्थ-प्रकृति कहलाती है। साहित्य-दर्पणकार ने ऐसी ही व्याख्या की है—'व्यापि प्रासगिक वृत्त पताका।' पताका उस प्रासंगिक कथावस्तु को कहेंगे, जो मुख्य कथा को विस्तार देने और फलप्राप्ति मे रोचकता एवं सहयोग प्रदान करने का कार्य करती है। स्कन्दगुप्त नाटक मे बन्धुवर्मा का प्रसंग पताका अर्थ-प्रकृति है, जो प्राधिकारिक कथावस्तु के प्रारम्भ होने के कुछ पश्चात् प्रारम्भ होती है और गर्भ-सन्धि के आस-पास समाप्त हो जाती है। इस प्रसंग का एकमात्र उद्देश्य स्कन्दगुप्त को लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता देना है। इससे भिन्न बन्धु वर्मा का अपना कोई उद्देश्य नही है। अतः यह 'पताका' का उत्तम उदाहरण है।

(4) प्रकरी

प्राधिकारिक कथावस्तु के विस्तार और फल-प्राप्ति की पुष्टि के लिए जिन छोटे-छोटे वृत्तों का समायोजन नाटक में किया जाता है, उन्हे प्रकरी अर्थ-प्रकृति कहा जाता है। ये कथानक कुछ समय के लिए आते है और अपने कार्य का सम्पादन कर समाप्त हो जाते हैं। स्कन्दगुप्त नाटक मे शर्वनाग, मातृगुप्त, धातुसेन आदि के प्रसंग प्रकरी के अन्तर्गत ही परिगणित होगे।

(5) कार्य

जिसकी सिद्धि के लिए नाटक के समस्त कलेवर का आयोजन किया जाता है, वही नाटक का कार्य कहलाता है। आधुनिक युग मे इसे ही उद्देश्य कहा जाता है। कार्यावस्थाओं में यही फल कहा जाता है। स्कन्दगुप्त नाटक मे राष्ट्र को निरापद बनाना ही उसका कार्य है। खिगल की पराजय और देश-निष्कासन स्कन्दगुप्त नाटक का कार्य है।

सन्धियाँ

'सन्धि' का अर्थ होता है 'जोड़' अर्थात् दो वस्तुओं को जोड़ने का कार्य जो विधा करती है, उसे सन्धि कहा जाता है। नाटक में भी सन्धियों से यही तात्पर्य है। प्राचीन आचार्यों ने वस्तु गठन के लिए जिन कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का विधान किया है, उनका योग यथास्थान भली-भाँति बना रहे, वे नाटक में स्वच्छन्द और बिखरी-बिखरी सी न जान पड़े, इस दृष्टि से उन्हें सुगठित रखने के लिए सन्धियों का भी विधान किया है। इनकी संख्या भी पाँच ही निर्धारित की गयी है, यथा—(1) मुख, (2) प्रतिमुख, (3) गर्भ, (4) विमर्श और (5) निर्वहण।

(1) मुख

मुख सन्धि प्रारम्भ नामक कार्यावस्था और अर्थ के प्रमुख हेतु बीज को

जोड़ने का कार्य करती है। ग्रत स्पष्ट है कि 'प्रारम्भ' नामक कार्यावस्था और 'बीज' नामक अर्थ-प्रकृति समान रूप से एक स्थल पर और एक पल के लिए संगुम्फित हो, इसकी सिद्धि मुख सन्धि के द्वारा की जाती है। विश्वनाथ ने मुख सन्धि का लक्षण इस प्रकार दिया है—'मुखं बीज-समुत्पत्तिर्नानार्थ-रस-सम्भवा।' स्कन्दगुप्त नाटक के प्रथम अंक की समाप्ति तक प्रारम्भ कार्यावस्था, बीज अर्थ प्रकृति और मुख-सन्धि का सुन्दर समन्वय हुआ है। 'स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा। अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा के लिए सन्नद्ध है।' आदि संवाद इसके उदाहरण हैं।

(2) प्रतिमुख सन्धि

जहाँ प्रयत्न नामक कार्यावस्था और बिन्दु नामक अर्थप्रकृति कार्य व्यापार को अग्रसर करते हुए दृष्टिगत होते हैं—वहाँ प्रतिमुख सन्धि होती है। इसमें 'बीज' कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में विकसित होता हुआ प्रतीत होता है और नायक फल-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है। स्कन्दगुप्त नाटक में स्कन्दगुप्त के समक्ष प्रपञ्च बुद्धि, शर्वनाग, जयमाला आदि के षड्यन्त्र और हूणों का आतंक आदि स्कन्दगुप्त को इनके शमन के लिए अग्रसर करते हैं। यहीं पर प्रतिमुख सन्धि का प्रवेश हो जाता है।

(3) गर्भ सन्धि

गर्भ सन्धि प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था और पताका नामक अर्थ-प्रकृति को जोड़ने का कार्य करती है। इस सन्धि का यह लक्षण है कि इसमें कार्य अथवा फल गर्भस्थ हो जाता है और बीज हेतु का बार-बार अन्वेषण किया जाता है। इस प्रकार के तिरोभाव और आविर्भाव की स्थिति को गर्भ सन्धि के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। स्कन्दगुप्त नाटक में जब मगध में अनन्तदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क का सम्मेलन होता है, वहीं से गर्भ सन्धि का प्रारम्भ होता है क्योंकि यहीं से बार-बार बीज का आविर्भाव और तिरोभाव होने लगता है। इनके सम्मेलन से फल-प्राप्ति की आशंका होने लगती है किन्तु दूसरी ओर स्कन्धगुप्त के प्रयत्नों को देखकर फल-प्राप्ति की आशा होने लगती है। यह स्थिति नाटक के चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य तक चलती है। यहीं पर गर्भ सन्धि समाप्त होती है।

(4) विमर्श सन्धि

विमर्श सन्धि नियताप्ति और प्रकरी को जोड़ने का कार्य करती है। इसके अन्तर्गत बीज का अधिक विस्तार होता है किन्तु उसके फलित होने से पहले कुछ बाधाएँ आ जाती हैं। संघर्ष, विमर्श एवं अन्तर्विश्लेषण की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु सन्धि की समाप्ति तक प्राय: समस्त बाधाओं का शमन हो जाता है और फल-प्राप्ति की आशा निश्चित हो जाती है। यथा :—स्कन्दगुप्त नाटक में चतु

अंक के तीसरे दृश्य में विपन्नावस्था में मञ्च पर उपस्थित होता है और भगवान् से अवलम्ब देने की प्रार्थना करता है। उस समय लगने लगता है कि फल की प्राप्ति स्कन्दगुप्त को नहीं होगी किन्तु कुछ समय पश्चात् विपक्ष के दुर्बल हो जाने, भटार्क के हृदय परिवर्तन, और स्कन्दगुप्त के समक्ष समर्पण से विपत्ति-काल टल जाता है। यहाँ तक विमर्श सन्धि चलती है।

(5) निर्वहण सन्धि

निर्वहण सन्धि मे फलागम नामक कार्यावस्था और कार्य नामक अर्थ-प्रकृति का मेल होता है। फल-प्राप्ति के मार्ग में आयी हुई रही-सही बाधाएँ भी निरस्त हो जाती हैं और अन्ततः नायक को फल-प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार नाटककार का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है और नाटक भी समाप्त हो जाता है। स्कन्दगुप्त नाटक मे विजया की आत्महत्या, पुरगुप्त और अनन्तदेवी को वन्दी बना लेना, भटार्क का स्कन्दगुप्त के अनुकूल हो जाना आदि के कारण स्कन्दगुप्त खिंगिल को परास्त करने में सफल होता है और इस प्रकार राष्ट्र को निरापद बनाने रूपी फल की प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्य वस्तु-संगठन को कितना अधिक महत्त्व देते थे किन्तु आजकल आधुनिक नाटको मे इस प्रकार की व्यवस्था को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। इसका तात्पर्य यह नही है कि आधुनिक नाटककार कथासंगठन को महत्त्व नही देते किन्तु उनका वस्तु-संगठन अपने ढग से होता है और उनमें मुख्यतः भारतीय एवं पाश्चात्य कथासंगठन के तत्त्वों का समान रूप से मिश्रण कर प्रयोग किया जाता है।

(2) नेता

भारतीय आचार्यों ने नाटक का दूसरा तत्त्व 'नेता' माना है। यहाँ पर, जहाँ तक मैं समझता हूँ, 'नेता' शब्द का पारिभाषिक रूप मे प्रयोग किया गया है। नेता वह होता है, जो किसी का नेतृत्व करे। अतः 'नेता' शब्द के साथ उसके अनुसरण-कर्त्ताओं का ग्रहण हो जाता है। इसके साथ ही नेता के विरोधी भी होते हैं। इस आधार पर हम प्रतिनायक और उसके अनुसरणकर्त्ताओं को ग्रहण कर सकते है। अतः स्पष्ट है कि 'नेता' शब्द से नाट्याचार्यों का अभिप्राय नाटक में आये समस्त पात्रों एवं उनके चरित्र-चित्रण से रहा है। यही कारण है कि इस शीर्षक के अन्तर्गत नायक, नायिका, प्रतिनायक, शकार, विदूषक, कञ्चुकी आदि पात्रों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नायक एवं नायिका के विभिन्न भेदों, उनके गुणों आदि का बहुत सुन्दर विवेचन हमें नाट्य ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय मनीषी ऐसे नायक की कल्पना करके चलते थे, जिससे जन-मानस अत्यधिक प्रभावित हो तथा नाटककार जो कुछ जनता से करवाना

चाहता है, उसे सम्पन्न करवाने में सफल हो सके। यह तो सभी आचार्यों का मानना है, चाहे वे प्राच्य हों या पाश्चात्य, कि नायक नाटक की धुरी का काम करता है। नाटक का समस्त घटना-चक्र उसके चारों ओर घूमता है। वह घटना-चक्र के अनुसार सचरण नही करता, बल्कि उसके व्यक्तित्व के अनुकूल नाटक की घटनाएँ घटित होती है। फलत नाटककार नायक के उदात्त चरित्र का उद्घाटन करता है। प्राचीन आचार्यों का मानना था कि नाटक का नायक प्रख्यात इतिहास-पुरुष होना चाहिए किन्तु आजकल इस धारणा को अस्वीकार कर दिया गया है और नाटक मे सामान्य जन भी नायक के रूप मे प्रस्तुत किया जाने लगा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र की 'सिन्दूर की होली' का नायक एक सामान्य व्यक्ति ही कहा जा सकता है। प्राचीन मान्यताओं के आधार पर नाट्याचार्यों ने नायक को चार श्रेणियों मे विभाजित किया है :—
(1) धीरोदात्त, (2) धीरललित, (3) धीरप्रशान्त, और (4) धीरोद्धत।

(1) धीरोदात्त

नाटक मे धीरोदात्त नायक को सर्वोच्च कोटि का नायक माना जाता है। 'साहित्य-दर्पण' मे कविराज विश्वनाथ ने धीरोदात्त नायक का लक्षण इस प्रकार दिया है —

> अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
> स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥
> (सा दर्पण 3/32)

अर्थात्—धीरोदात्त नायक आत्मश्लाघा नही करता अर्थात् वह अपने गुणो की स्वय प्रशसा नही करता है। वह क्षमाशील होता है। गम्भीरता से अलंकृत होता है अर्थात् 'क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टाः' जैसे अवगुण से विरहित रहता है और अत्यन्त समझ-बूझ के साथ निर्णय लेने वाला महामानव होता है, क्योंकि वह हर्ष शोकादि भावो से अप्रभावित रहता है अर्थात् सफलता पर गर्व नही करता और असफलता मे निराश नही होता। वह अपने कार्यों में स्थिर रहता है। वह अत्यन्त स्वाभिमानी होता है। अपने सकल्प या वचन पर दृढ रहता है। ऐसे व्यक्ति को धीरोदात्त नायक कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः राजवशी होता है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का नायक स्कन्दगुप्त धीरोदात्त नायक है।

(2) धीरललित

धीरललित नायक, जैसाकि शीर्षक से ही स्पष्ट है, कलाप्रिय एवं निश्चित प्रवृत्ति का होता है। ऐसे नायक का स्वभाव अत्यन्त मृदुल एवं सुखी होता है। ऐसा नायक कलाप्रिय ही नही अपितु कलाविद् भी होता है। संगीत से विशेष लगाव होता

है। दुष्यन्त एवं वत्सराज उदयन इसी प्रकार के नायक हैं। यथा :—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

(सा. दर्पण 3, 35)

(3) धीरप्रशान्त

धीरप्रशान्त नायक मे नायकोचित गुणो के साथ-साथ यह विशेषता होती है कि वह अत्यन्त शान्त प्रवृत्ति का होता है। कभी भी अपने ऊपर अप्रसन्नता एवं खिन्नता को हावी नही होने देता। आचार्यों का अभिमत है कि ऐसा नायक राजवंशी क्षत्रिय न होकर कोई ब्राह्मण, वणिक् अथवा सचिवादि होता है। धनिक ने स्पष्ट करते हुए लिखा है :—विप्रवणिक्सचिवादि।' हिन्दी नाटकों में ऐसे नायक का अभाव सा मिलता है। यथा :—

सामान्य गुणैर्भूयान् द्विजातिको धीर-प्रशान्तः स्यात्।

(सा. दर्पण 3, 34)

(4) धीरोद्धत

धीरोद्धत नायक नैतिकता-विहीन, छली, प्रपंची एवं मायावी होता है। इसकी प्रवृत्ति उग्र, चपल एवं अहंकार युत होती है। आत्मश्लाघा का गुण इसमें कूट-कूट कर भरा रहता है। इसे अपने बल और वैभव पर बड़ा गर्व होता है और जब भी अवसर मिलता है गर्वोक्तियाँ करने लगता है। सुरा, सम्पत्ति एवं सुन्दरी का प्रेमी होता है। एक प्रकार से ऐसा नायक भ्रान्त संसार में विचरण करने वाला होता है। नाटककार विशेषकर भारतीय संस्कृति के अनुरूप नाटक लिखने वाले लेखक ऐसे नायक की सृष्टि अपने नाटको मे नही करते। हाँ ! प्रतिनायक के रूप में प्रायः ऐसे पात्र को प्रस्तुत किया जाता रहा है। महाकाव्यों मे रावण, स्कन्दगुप्त नाटक का भटार्क ऐसे ही प्रतिनायक हैं। साहित्य दर्पण में धीरोद्धत के लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं :—

माया-पर : प्रचण्डश्चपलोऽहंकार-दर्प-भूयिष्ठः।
आत्मश्लाघा-निरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥

(सा. दर्पण 3, 33)

भारतीय आचार्यों ने शृंगार रस प्रधान नाटकों के आधार पर भी नायकों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। ऐसे नाटकों में नायिका की प्राप्ति ही नाटक का फल होता है। ऐसे नायकों को भी चार वर्गों में विभाजित किया गया है — (1) अनुकूल, (2) दक्षिण, (3) शठ और (4) धृष्ट।

(1) अनुकूल नायक

उसका व्यवहार सरल, सदय एवं अच्छा होता है किन्तु प्रधान रानी या पटरानी का विशेष ध्यान रखता है। उसमे कुछ ऐसे गुणों का सन्निवेश किया जाता है कि वह सभी पत्नियों को प्रसन्न रखने मे सफलता प्राप्त करता है।

(3) शठ नायक

ऐसा नायक प्रदर्शित तो यह करता है कि वह केवल अपनी पत्नी या प्रेमिका से ही प्रेम करता है किन्तु चोरी-छुपे अन्य नायिकाओं से प्रेम-सम्बन्ध रखता है। इसकी महत्ता इसी बात मे निहित रहती है कि वह अपने प्रेम-व्यापार को गुप्त रखता है।

(4) धृष्ट नायक

ऐसा नायक स्पष्ट रूप से दुराचारी और निर्लज्ज होता है। सुरा-सुन्दरी ही उसके साध्य होते हैं।

कतिपय अन्य विशिष्ट पात्र

(1) प्रतिनायक

यह पात्र नायक का प्रतिद्वन्द्वी होता है और नायक की तुलना में अवगुणों का आगार होता है तथा फल-प्राप्ति में नायक के मार्ग मे बाधाएँ उपस्थित करता है। प्रतिनायक में प्राय. धीरोद्धत नायक के लक्षण होते हैं।

(2) विट

भरत मुनि ने 'विट' के लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

वेश्योपचार-कुशलः मधुरः दक्षिणः कविः।
ऊहापोह क्षमो वाग्मी, चतुरश्च विटो भवेत् ॥

अर्थात्, 'विट' ऐसा पात्र होता है जो वेश्याओं को प्रसन्न रखने मे कुशल होता है। यह व्यवहार कुशल, मधुरभाषी और कविता करने वाला होता है। यह बातें करने मे चतुर और ऊहापोह की स्थिति उत्पन्न करने में दक्ष होता है। आज-कल ऐसे पात्रो की सृष्टि प्राय नही की जाती।

(3) चेट

चेट पात्र अनेक कथा-प्रसगो का ज्ञाता और लड़ाकू प्रवृत्ति का होता है। यह विकृत रूप वाला और सुगन्धप्रिय होता है। इसमे विवेक-बुद्धि का प्रवेश रहता है। फलत: यह जानता होता है कि किस बात को मानना चाहिए और किस बात को नही मानना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

कलहप्रियो बहुकथो, विरूपो गन्धसेवकः।
मान्यामान्य-विशेषज्ञश्चेटोप्येवंविधः स्मृतः ॥

(4) शकार

शकार श्वेत वस्त्र धारण करता है और आभूषण-प्रिय होता है। अकारण क्रोध करने वाला और अकारण ही प्रसन्न हो जाने वाला होता है। यह अधम पात्र होता है। विविध विकारों से युक्त होता है। संस्कृत आचार्य ऐसे पात्र से मागध भाषा के प्रयोग का निर्देश देते हैं, यथा—

उज्ज्वल-वस्त्राभरणः क्रुध्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च।
अधमो मागधभाषी भवति शकारो बहु-विकारः॥

(5) विदूषक

ऐसे पात्र की सृष्टि हास्य-विनोद के लिए की जाती है। यह प्रायः नायक का मित्र होता है और इसका प्रवेश रनवास तक रहता है। ऐसा पात्र वामन, बडे दाँतों वाला, कुबड़ा, विकृत मुख वाला, पीली आँखों वाला और दोहरी बातें करने वाला होता है। विदूषक की यह विशेषता होती है कि वह जहाँ एक ओर नायक का मनोरञ्जन करता है, वहाँ दूसरी ओर प्रत्यक्ष या मनोरञ्जन के माध्यम से नायक का मार्ग-दर्शन भी करता है। नाटकों में यह प्रायः भोजनभट्ट (पेटू) के रूप में चित्रित किया जाता रहा है। यह सांकेतिक भाषा में बातें करता है तथा नायक को प्रेम-प्रसंगों में परामर्श भी देता है। फलत. विदूषक नाटक का महत्त्वपूर्ण पात्र होता है। नाट्य-शास्त्र में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः।
खलतिः पिंगलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः॥

उपर्युक्त पात्रों की आजकल कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। इस प्रकार के वातावरण की सृष्टि के लिए किसी भी पात्र का सहयोग लिया जा सकता है। फलतः उपर्युक्त लक्षणों को ध्यान में रख कर किसी पात्र की सृष्टि करने का प्रयास आजकल त्याग दिया गया है।

नायिका—चाहे किसी प्रकार के नाटक का सर्जन किया जाए, उसमें नायिका की सृष्टि तो की ही जाती है। फलतः संस्कृत नाट्याचार्यों ने नायिकाओं का भी अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया है। भरतमुनि ने नायिका के लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

रूप-गुण-शील-यौवन-माधुर्य-शक्ति-सम्पन्ना।
विशदा स्निग्धा मधुरा, पेशल-वचनाभिरत-कण्ठी च॥
योग्याऽक्षुभिता लयतालज्ञा रसैस्तु संयुक्ता।
एवंविध-गुणैर्युक्ता, कर्त्तव्या नायिका तज्ज्ञैः॥

अर्थात्—नायिका रूपवती, गुण, शील, यौवन, मधुरता और शक्ति से युक्त होनी चाहिए। वह सदैव प्रसन्न रहने वाली तथा स्निग्ध, मधुर एवं भावपूर्ण वचन बोलने वाली होनी चाहिए। उसे संगीत के लय-ताल का ज्ञान रखने वाली, रसिका एवं योग्य होना चाहिए। केवल ऐसे गुणों वाली नायिका ही नायक को आकृष्ट करने में सफल हो सकती है। उसे अपने कर्त्तव्य का भी ज्ञान रहना चाहिए। भरत के इस कथन को आधार बना कर धनञ्जय ने और परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने नायिका के सैकड़ों भेदोपभेद प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

रस

भरतमुनि जिस प्रकार नाट्य-शास्त्र लिखने वाले पहले आचार्य हैं, उसी प्रकार काव्य में रस की स्थापना करने वाले भी पहले आचार्य हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि रस-संचार के बिना किसी भी अर्थ की सिद्धि सम्भव नहीं है। यथा—'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।' रसों का विस्तृत विवेचन तो रस-सम्प्रदाय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है किन्तु उसका सामान्य परिचय यहाँ पर भी अपेक्षित है। भरतमुनि यह मान कर चलते हैं कि नाटक में किसी न किसी रस की पूर्ण व्यञ्जना होनी चाहिए, अन्यथा नाटक कलात्मक स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाएगा।

रस वस्तुतः आनन्द का ही बोधक पारिभाषिक शब्द है। उपनिषदों में 'रसो वै सः' कह कर उसकी स्पष्ट व्याख्या कर दी गयी है कि वह ब्रह्म ही रस है अथवा रस ही ब्रह्म है। सामान्य भाषा में रस की परिभाषा यों की जा सकती है—काव्य के पढ़ने, सुनने, अथवा देखने से पाठक, श्रोता अथवा दर्शक को जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसे रस कहते हैं। यह एक ध्रुव सत्य है कि काव्य की कोई भी विधा हो, उसके पठन, श्रवण, दर्शन से आनन्द की अनुभूति होती है। विश्व के प्रायः समस्त आचार्य इस सत्य को एक मत से स्वीकार करते हैं किन्तु यह रसोपलब्धि या रसानुभूति कैसे होती है और प्रमाता किस तरह और किस माध्यम से रससनात होता है, इस पर विद्वानों में मतभेद है। भरतमुनि ने सर्वप्रथम मनोवेगों एवं भावों के आधार पर रस की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जो आगे चल कर विद्वानों के चिन्तन का विषय बना और उसे दार्शनिक पृष्ठभूमि पर स्थापित करने का सफल प्रयास किया गया। भरतमुनि ने एक सूत्र प्रदान किया, जिसमें रस के चार अवयवों का आख्यान है; यथा—

'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।'

इसके अनुसार जब स्थायी भाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से परिपक्वावस्था में पहुँच जाते हैं तो रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार रस के चार अवयव निश्चित हो गये—(1) स्थायीभाव, (2) विभाव, (3) अनुभाव और (4) व्यभिचारी भाव। आगे चल कर भरत सूत्र के 'संयोग' और 'निष्पत्ति'

शब्दों को लेकर अत्यन्त विवाद उत्पन्न हुआ, जिसका परिणाम यह निकला कि रस का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण उभर कर सामने आया।

भरतमुनि ने नाटक के क्षेत्र मे केवल आठ रसो का ही विधान किया है, जो इस प्रकार हैं—"शृंगारहास्यकरुण-रौद्रवीर-भयानका: । बीभत्साद्भुत-सञ्ज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: ।" अर्थात्—(1) शृगार, (2) हास्य, (3) करुण, (4) रौद्र, (5) वीर, (6) भयानक, (7) बीभत्स और (8) अद्भुत ।

नाट्याचार्य नाटक में शान्त रस की स्थापना उचित नही मानते । इनमे भी नाटक में शृगार, वीर एव करुण रसों को ही अगी रस रखने का विधान किया है । शेप रसों को अंग या सहायक रसों के रूप मे समायोजित करने का परामर्श दिया है। साथ ही नाट्याचार्यों ने यह सुझाव भी दिया है कि विरोधी रस को तत्काल प्रस्तुत न किया जाए। इस से रस मे अवरोध आ जाने का भय रहता है । आज-कल के नाटककार रस-निप्पत्ति के प्राचीन विधानों की ओर से प्राय. उदासीन हैं । देखा जाए तो यह व्यवस्था प्रारम्भिक ही है । इस व्यवस्था से ही रस की निष्पत्ति हो, यह भी आवश्यक नही है । इस प्रसग को विस्तार से 'रस-सम्प्रदाय' अध्याय मे देने का प्रयास करेंगे ।

अभिनय

अभिनय नाटक का प्रमुख तत्त्व है क्योंकि नाटक की समग्र कथावस्तु का संयोजन इस प्रकार किया जाता है कि उसको अभिनय के द्वारा दृश्य बनाया जा सके और दर्शक इस बात का भली-भाँति अनुभव कर सकें कि किस परिस्थिति मे व्यक्ति किस प्रकार की मुद्रा में होता है और उसकी मानसिक स्थिति किस प्रकार की हो जाती है । अभिनेता के लिए यह परमावश्यक होता है कि वह अभिनय मे अस्वाभाविकता न आने दे । सामान्य रूप मे जिन परिस्थितियों मे व्यक्ति जिस रूप मे प्रकट होता है, उसी रूप में अभिनेता भी अपने आपको प्रस्तुत करे । हर्प-विपाद, राग-द्वेष, करुणा, दया, ममता, ईर्ष्या, डाह आदि मनोवेगो की सम्यक् एव स्पष्ट किन्तु स्वाभाविक अभिव्यक्ति का पूर्ण उत्तरदायित्व अभिनेता का होता है । इसके अभाव मे नाटक का उद्देश्य ही श्रीहीन हो जाएगा । इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए नाट्याचार्यों ने अभिनय के विभिन्न प्रकारो, वृत्तियों आदि का अत्यन्त विस्तार एवं सूक्ष्मता से विवेचन एवं विश्लेपण प्रस्तुत किया है । यह सही है कि उनमें से कितने ही प्रकारों की वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ कोई प्रासगिकता नही रह गयी है, फिर भी अनेक प्रकार आज भी कुशल अभिनय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । नाट्याचार्यों के अनुसार अभिनय चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) आंगिक, (2) वाचिक, (3) आहार्य और (4) सात्त्विक ।

(1) आंगिक अभिनय

अग संचालन और आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से जो भाव या अर्थ प्रकट किया जाता है, वह आंगिक अभिनय कहलाता है। विद्वान् आंगिक अभिनय को तीन भागो मे विभाजित करते हैं—(1) शरीरज, (2) मुखज और (3) चेष्टाकृत। मैं जहाँ तक समझता हूँ यह विभाजन उचित नही है। आंगिन अभिनय मे नेत्रो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उसे इस अभिनय मे स्थान नही देना उचित प्रतीत नही होता। मेरी दृष्टि से आंगिक अभिनय को निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जाना चाहिए—(1) मुखाकृतिमूलक अभिनय, (2) कायिक अभिनय, और (3) चैष्टिक अभिनय।

(1) मुखाकृतिमूलक अभिनय—आंगिक अभिनय मे यह अभिनय सर्वोपरि है। जब मैं मुखाकृति शब्द का प्रयोग करता हूँ, तब मेरा तात्पर्य इसमे ललाट से लेकर अधर तक अग समाहित करना है। ललाट पर स्वेद आ जाना, ललाट का खिल उठना, उस पर सलवटें पड़ जाना, चमक आ जाना आदि। इस प्रकार भौंहो का सरल, वकिम एवं वक्र होना, पलको का गिरना अथवा धीरे-धीरे उठना, अपागो से देखना, घूरना, आँखों को रक्तिम करना, नयनों से अश्रुपात होना, वरोनियो का हिलना, निश्चल हो जाना, आदि। इसी प्रकार नयन एक ऐसा अग है, जो किसी के प्रति घृणा, प्रेम, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि भावो को भली प्रकार व्यक्त कर सकता है। इसके पश्चात नासिका, मुख, दन्त, अधरों आदि से भी अभीप्सित भाव की भली प्रकार अभिव्यक्ति की जा सकती है। मुखज और मुखाकृतिमूलक मे यह अन्तर है कि मुखज भेद केवल मुख की गतिविधियो का ही बोध कराता है। जब कि मुखाकृतिमूलक भेद वदन के अन्य अवयवो को भी अपने मे समेटे हुए है। फिर इनके सामूहिक अभिनय का भी अपना महत्त्व है। (2) कायिक अभिनय के अन्तर्गत वक्ष को फुलाना, गर्दन का सचालन, उदर दर्शन, कमर का सचालन, नितम्बो को मटकाना, पैर आदि मारना, हाथो का संचालन करना, अगुली या अगूठा दिखाना आदि अनेक मुद्राओ को समाहित किया जा सकता है। (3) चेष्टाकृत मे दौड़ना, छुपना, तमाचा लगाना, तैरना, टटोलना, आदि क्रियाओ को लिया जा सकता है।

(2) वाचिक अभिनय

वाचिक अभिनय का सवादो के कथन के साथ सम्बन्ध है। किस सवाद का कथन किस प्रकार किया जाना चाहिए, उसका आरोह-अवरोह क्रम कैसा होना चाहिए, काकु प्रयोग किन परिस्थितियो मे किस प्रकार किया जाना चाहिए—ये सब बातें वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आती हैं। इसी प्रकार किस व्यक्ति को किस प्रकार सम्बोधित किया जाना चाहिए, कहाँ शुद्ध भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए और कहाँ पर अशुद्ध एव विकृत भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए आदि बातें भी

वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आती हैं। वास्तविकता तो यह है कि वाचिक अभिनय के अन्तर्गत 'गले' की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उसी से राजा, ऋषि, अध्यापक, व्यापारी, सामान्य जन, राजनेता, पत्रकार आदि का सफल दिग्दर्शन कराया जा सकता है।

(3) आहार्य अभिनय

आहार्य भी एक प्रकार से अभिनय का ही अंग है। किस पात्र को किस समय कौन से वस्त्राभूषणों से अलंकृत करना है, किस ऋतु मे कैसी वेश-भूषा होनी चाहिए आदि आहार्य अभिनय के अन्तर्गत आते हैं। इसमें देश-काल और वातावरण का विशेष ध्यान रखा जाता है। नारियों के प्रसाधन के साधन और साज-सज्जा आदि के कार्य भी इसी के अन्तर्गत परिगणित किये जा सकते हैं।

(4) सात्त्विक अभिनय

सात्त्विक अभिनय, अभिनय तत्त्व का सबसे कठिन भेद है। इसमें अभिनेता को अन्तरस्थ भाव की अभिव्यक्ति करनी होती है। हावो, भावो का इस प्रकार प्रदर्शन करना होता है कि सम्बद्ध भाव की दर्शक उसी रूप में अनुभूति कर सकें। यह अभिनय अत्यधिक प्रयत्न-साध्य होता है।

नाट्य-वृत्तियाँ

नाट्य-वृत्तियाँ भी, देखा जाए तो अभिनय तत्त्व के अन्तर्गत ही आती है। वैसे इन्हें अभिव्यक्ति शैलियाँ कहा जा सकता है और नाटककार के साथ इसका अधिक सम्बन्ध है। भरतमुनि ने इनकी संख्या चार निर्धारित की है—(1) कैशिकी, (2) आरभटी, (3) सात्वती, और (4) भारती।

(1) कैशिकी

यह मनमोहक वृत्ति है। इसका प्रयोग शृंगार और हास्य रस के अभिनय में किया जाता है। गीत नृत्य आदि का प्रयोग इस वृत्ति में पर्याप्त मात्रा मे किया जाता है। वस्तुतः इसके माध्यम से लालित्य और विलास की अभिव्यक्ति की जाती है।

(2) आरभटी

यह वृत्ति वहाँ होती है, जहाँ छल, कपट, माया, इन्द्रजाल, दम्भ, झूठ, विचित्रता आदि का प्रदर्शन किया जाता है। इसका सम्बन्ध भयानक, रौद्र और वीभत्स रसो से है। इसमे आघात-प्रत्याघात, संघर्ष, हानि-लाभ, भय आदि की अभिव्यक्ति की जाती है।

(3) सात्त्वती

इसके अन्तर्गत उदात्त पुरुषों की चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाता है। इसका

सम्बन्ध वीर, अद्भुत और रौद्र रसों से है। इसमें वीरता, संघर्ष, हर्ष उल्लास आदि का प्रदर्शन किया जाता है।

(4) भारती

भारती वृत्ति मे वाक्‌चातुर्य की प्रधानता होती है। भरत इसके सर्वाधिक प्रशसक होने के कारण शायद इसका 'भारती' नाम पड़ा। स्त्रियों के लिए इस वृत्ति का प्रयोग निषिद्ध है। इसका करुण और अद्भुत रसो से सम्बन्ध है। इसका प्रयोग मुख्यतया नाटक के प्रारम्भ मे किया जाता है क्योकि इसमे वाग्वैचित्र्य की प्रधानता रहती है।

इनके अतिरिक्त नान्दी पाठ-प्रस्तावना, भरत वाक्य जैसे नियमो का विधान भी नाट्याचार्यों ने नाटक के लिए किया है। संस्कृत मे इनका कठोरता से पालन किया जाता था किन्तु आज के वैज्ञानिक युग मे इस प्रकार की विधाओ के लिए अवसर नही है। फलत. इनके प्रयोगो का पूर्णतः परित्याग कर दिया गया है। आजकल तो नाटक सीधा कथा के मूल से ही प्रारम्भ कर दिया जाता है।

(2) एकाङ्की

एकाङ्की नाटक दृश्य-काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है और विशेषकर आज के युग मे इसका महत्त्व और अधिक बढ़ गया है क्योकि आज मनुष्य का जीवन इतना व्यस्त हो गया है कि एक लम्बे नाटक का पूर्ण मञ्चन देखने का समय उसके पास नही है। फलत. वह कम समय मे नाटक का पूर्ण आनन्द लेना चाहता है और वह उसे एकाङ्की नाटक से प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि आजकल हिन्दी-साहित्य में नाटक की तुलना मे एकाङ्की नाटक अधिक लिखे जाने लगे हैं।

संस्कृत साहित्य मे रूपक के दस भेदों मे से पाँच एकाङ्की हैं किन्तु उनकी विषय सामग्री और रचना-विधान में अन्तर होने के कारण संस्कृत आचार्यों ने उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की है किन्तु हिन्दी साहित्य मे उन सब को 'प्रहसन' को छोड़ कर एक रूप मे ही समाहित कर लिया है और उस रूप को एकाङ्की नाटक कहा जाने लगा है।

एकाङ्की नाटक मे एक अंक और अनेक दृश्य होते है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात, उत्पाद्य या मिश्र किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसमे किसी व्यक्ति के जीवन की किसी एक घटना को प्रस्तुत किया जाता है। फलतः इसमे पात्रो की संख्या कम होती है। लेखक का ध्यान इस बात पर केन्द्रित रहता है कि एकाङ्की में आए पात्रों का छोटे इतिवृत्त में भली प्रकार चारित्रिक विकास प्रस्तुत किया जा सके और तदनुरूप अपने उद्देश्य को भी स्पष्ट कर सके। शेष लक्षण नाटक के ही होते हैं। नाटक और एकाङ्की मे केवल इतना अन्तर होता है कि नाटक मे किसी महा-पुरुष अथवा सामान्य व्यक्ति के जीवन का समस्त इतिवृत्त सजोया जाता है तो एकाङ्की मे उसके जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना की योजना की जाती है।

नाटक में आधिकारिक कथावस्तु के साथ एक प्रासंगिक कथावस्तु तथा अनेक कथान्तर घटनाओं का गठन किया जाता है जबकि एकांकी में केवल एक आधिकारिक कथावस्तु ही होती है। अतिरिक्त घटनाओं का समावेश या तो करवाया ही नहीं जाता और यदि करवाया जाता है तो अत्यन्त कम। एकांकी में नाटक की तुलना में बहुत कम पात्र होते हैं। एकांकी में संकलनत्रय की योजना अनिवार्य तथ्य है जबकि नाटक में इसकी अनिवार्यता नहीं है। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि नाटक यदि एक सुन्दर उपवन है तो एकांकी घर के एक कक्ष में मेज पर सजा हुआ सुन्दर गुलदस्ता है। एकांकी में सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि किसी भी विषय को संजोया जा सकता है। एकांकी ऐतिहासिक, पौराणिक, काल्पनिक आदि सभी प्रकार के हो सकते हैं।

(3) रेडियो रूपक

आजकल आकाशवाणी के आविष्कार के साथ-साथ साहित्य में भी तदनुरूप विधाओं का आविष्कार होने लगा है। रेडियो रूपक इसी का परिणाम है। यह नाटक इस प्रकार तैयार किया जाता है कि पात्रों और मञ्च के अदृष्ट रहने पर भी अभिनय कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि आकाशवाणी के श्रोता उसका दर्शक की तरह आनन्द लेने में सफल रहते हैं। ऐसे नाटकों में न अंकों का बन्धन होता है और न ही दृश्यों की अनिवार्यता। संकलनत्रय का भी कोई दबाव ऐसे नाटकों पर नहीं होता। ऐसे नाटकों में 'स्वगत कथन' जैसी अस्वाभाविक प्रणाली को भी स्वाभाविक बना कर प्रस्तुत किया जाता है। आजकल रेडियो रूपक दृश्य-काव्य की अत्यन्त लोक-प्रिय विधा मानी जाने लगी है।

(4) प्रहसन

संस्कृत प्रहसनों और हिन्दी प्रहसनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। किसी सामाजिक, राजनैतिक या अन्य प्रकार की कुरीतियों को हास्य व्यंग्य के माध्यम से प्रकट करने का प्रहसन एक अच्छा माध्यम माना जाता है। मनोरञ्जन इसका मुख्य उद्देश्य होता है किन्तु उसकी तह में कोई न कोई समस्या और उसका समाधान निहित रहता है।

(5) ध्वनि नाट्य

इसमें वाचिक अभिनय की प्रधानता रहती है। ऐसे नाटकों को भी आकाशवाणी पर ही प्रदर्शित किया जाता है। इसमें लेखक को शब्दों का चयन बड़ी सावधानी से करना पड़ता है और अभिनेता को उन शब्दों का उच्चारण भी बड़ी सावधानी से करना पड़ता है। यह सब इसलिए करना पड़ता है कि भाषा के साथ-साथ आंगिक और सात्विक अभिनय की भी श्रोता अनुभूति कर सके। इसी कारण कुछ लोग इसे अन्धों का सिनेमा भी कहते हैं।

(6) भावनाट्य

भावनाट्य पद्यबद्ध होता है और अभिनेता इसका प्रदर्शन संगीत, नृत्य एवं भावपूर्ण मुद्राओं द्वारा करते हैं। इसमें मानसिकता का सतत प्रदर्शन प्रस्तुत किया जाता है। इसे भाव-नाट्य इसीलिए कहा जाता है कि इसमें अनुभावों और मुद्राओं के प्रदर्शन का प्राधान्य रहता है। उसी के माध्यम से सम्बद्ध भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। इसमे वाचिक अभिनय का अभाव रहता है। उदय शंकर भट्ट का 'विश्वामित्र और दो भाव नाट्य' इसका सर्वोत्तम उदाहरण हैं। विष्णु प्रभाकर ने भी भावनाट्यों का सर्जन किया है।

(7) फीचर

इसे रेडियो फीचर भी कहा जाता है। इसकी विशेषता यह है कि प्रसिद्ध उपन्यासो का रूपान्तर नाटक मे कर उसे आकाशवाणी पर प्रदर्शित किया जाता है। वस्तुत: यह रेडियो की सूचनात्मक एवं प्रचारात्मक शैली है जिसे नाटक का रूप प्रदान कर रसात्मक एवं प्रभावात्मक बना दिया जाता है। वी. बी. सी. पर प्रति सप्ताह एक बार इसका प्रदर्शन किया जाता है। परमाणु आयुधों को लेकर एक बार एक बहुत अच्छा प्रदर्शन हुआ था। हिन्दी में सुशील का 'पंचायत राज' भी इसका अच्छा उदाहरण है। आकाशवाणी इस विधा को अत्यन्त लोक-प्रिय बनाने मे कृत-संकल्प है।

(8) रिपोर्ताज

'रिपोर्ताज' दो प्रकार से लिखा जाता है; एक तो कथोपकथन की नाटकीय शैली मे जिसका प्रदर्शन आकाशवाणी पर किया जाता है और दूसरा गद्य शैली में, जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। इसमे किसी महत्त्वपूर्ण घटना, घटना-स्थल, या फिर जीवन की विशिष्ट रीति-नीतियों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इसमें प्राय: दो पात्र होते है और वे घटनाओ का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि जैसे मानो वे पात्र उस घटना या विवरण के अंग हों। कुछ विद्वानों के मत में महत्त्वपूर्ण अवसरो पर उसका आँखों-देखा विवरण प्रस्तुत करना भी रिपोर्ताज के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिए। उदाहरणार्थ—गणतन्त्र दिवस, स्वाधीनता दिवस, खेल के मैदानों का विवरण आदि।

नाटक के भेद

नाटक के तीन दृष्टियों से भेद किये जा सकते हैं—(1) विषय की दृष्टि से जैसे ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, राजनैतिक, सास्कृतिक आदि। (2) शैली की दृष्टि से। इस दृष्टि से किये गये भेदों में सामान्य या प्रत्यक्ष शैली के नाटक वे हैं, जो सीधे अपने प्रत्यक्ष व्यक्तित्व -के माध्यम से लक्ष्य की ओर अग्रसर होते है। इसमें प्राय: समस्त नाटकों को परिगणित किया जा सकता

है। दूसरे, प्रतीकात्मक शैली में लिखे गये नाटक वे हैं, जिनमें पात्र अपने व्यक्तित्व के साथ-साथ किन्हीं अन्य व्यक्तियों या भावों के प्रतीक भी होते हैं। हिन्दी का 'पहला राजा' कुछ इसी प्रकार का नाटक है। (3) मञ्चीय दृष्टि से विभाजित नाटकों में वे नाटक परिगणित किये जा सकते हैं जिनका सर्जन मञ्च को दृष्टि मे रख कर किया जाता है। उनमें मञ्च की सुविधा और अभिनय की सुविधा को ध्यान मे रखा जाता है। इनके अभाव मे नाटक केवल पाठ्य-नाटक ही रह जाते हैं। स्व. प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त नाटक इसी प्रकार का नाटक कहा जा सकता है।

पाश्चात्य नाट्य लक्षण एवं तत्त्व

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का प्रारम्भ भी एक प्रकार से नाटक से ही माना जाना चाहिए। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने त्रासदी के लक्षण, स्वरूप एवं तत्त्वों पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया है। उनके विचार ही न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ आज भी पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे मान्य हैं। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में नाटक के दो भेद किये जाते हैं—(1) त्रासदी और (2) कामदी। पाश्चात्य विद्वान् त्रासदी को ही विशेष महत्त्व देते है। *कामदी लगभग प्रहसन की समकक्ष विधा है।* अरस्तू ने त्रासदी को लेकर नाटक के लक्षणोपलक्षणों का सांगोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया है।

त्रासदी की परिभाषा—अरस्तू के अनुसार गम्भीर एव स्वत पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम त्रासदी है जिसका माध्यम अलंकृत भाषा होती है जो समाख्यान रूप न होकर कार्य-व्यापार रूप होती है। त्रासदी मे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनो-विकारो का उचित विरेचन किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि अरस्तू नाटक को कार्य की अनुकृति मानता है। उसके अनुसार यह कार्य गम्भीर एव स्वत.पूर्ण होता है। इस कार्य का वर्णन नही अपितु प्रदर्शन होता है। भाषा अलंकृत होती है और करुणा तथा त्रास के उद्रेक से इन मनोविकारों का विरेचन होता है।

त्रासदी के अंग—अरस्तू के अनुसार त्रासदी के मुख्यत. छह अग या तत्त्व होते हैं—(1) कथानक, (2) चरित्र चित्रण, (3) विचार तत्त्व, (4) पद रचना तत्त्व, (5) दृश्य विधान और (6) गीत।

(1) कथानक

कथानक के सम्बन्ध में अरस्तू और भारतीय आचार्यों के मतो मे कोई विशेष या तात्त्विक अन्तर नही है। अन्तर केवल इतना है कि भरतमुनि नाटक में रस को सर्वोपरि स्थान देते हैं तो अरस्तू कथानक को त्रासदी का महत्त्वपूर्ण अग मानते है। अपने कथन की पुष्टि मे अरस्तू निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(क) त्रासदी क्योंकि अनुकृति है और यह अनुकृति व्यक्ति की नही कार्य की

होती है और जीवन का नाम ही कार्य-व्यापार है। फलतः जीवन की अनुकृति में कार्य-व्यापार का ही प्रामुख्य रहना चाहिए।

(ख) काव्यगत प्रभाव का स्वरूप सुख या दुःख होता है और ये दोनों कार्य पर ही निर्भर करते हैं। फलतः कार्य अथवा घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य है।

(ग) चरित्र तो कार्य-व्यापार के साथ गौण रूप में स्वतः ही आ जाता है। फलत. बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी की रचना नही हो सकती किन्तु बिना चरित्र-चित्रण के त्रासदी की रचना हो सकती है। (आजकल अरस्तू के इस तर्क को स्वीकार नही किया जाता।)

(घ) चारित्र्य-व्यञ्जक भाषण, विचार अथवा पदावली, चाहे वे कितने ही परिष्कृत क्यो न हो वैसा सारभूत कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नही कर सकते जैसा घटनाओ के कलात्मक गुम्फन से उत्पन्न किया जा सकता है।

(ङ) त्रासदी के प्रबल रागात्मक तत्त्व—स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान—कथानक के ही अग होते है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर अरस्तू का कहना है कि नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार और चरित्र-चित्रण मे तो सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं किन्तु कथानक के सफल निर्माण करने मे उन्हे समय लगता है।

कथानक के स्रोत

अरस्तू भी कथानक के तीन स्रोत मानकर चलते हैं—(1) दन्तकथा मूलक, (2) कल्पना मूलक और (3) इतिहास मूलक। अरस्तू के पहले और तीसरे स्रोत को भारतीय 'प्रख्यात' स्रोत के अन्तर्गत और द्वितीय स्रोत को 'उत्पाद्य' के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है। अरस्तू 'मिश्र' स्रोत का जिक्र नही करते।

कथानक का आयाम

अरस्तू ने कथानक के विस्तार या आकार पर भी अपने विचार प्रकट किये है। उनके अनुसार आयाम से तात्पर्य कथानक के आकार से है जिसे दृष्टि एक साथ समग्र रूप मे ग्रहण कर सके। इस आधार पर कथानक के उचित आयाम का अर्थ होगा—कथानक का ऐसा विस्तार जिसे स्मृति सरलता से अपने मे धारण कर सके। फलतः कथानक न तो इतना लघुकाय हो कि प्रेक्षक के मन में उसका स्वरूप ही स्पष्ट न हो सके और न ही इतना विस्तृत कि दर्शक उसे समग्र रूप मे ग्रहण ही न कर सके। अतः स्पष्ट है कि कथानक का सर्वाङ्ग स्पष्ट रूप से व्यक्त रहना चाहिए और उसमें जीवन की परिणति के लिए सम्यक् अवकाश रहना चाहिए। इतना अवकाश रहना चाहिए कि उसमे जीवन का चक्र एक बार पूरी तरह घूम सके।

कथानक के गुण

कथानक के गुण से अरस्तू का तात्पर्य कथावस्तु के गठन से है। भारतीय

आचार्यों ने इसकी व्याख्या अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों के माध्यम से की है तो अरस्तू ने इन्हें सामान्य रूप से प्रस्तुत किया है। अरस्तू के अनुसार कथानक के मूल गुण पाँच माने हैं—(1) एकान्विति (2) पूर्णता, (3) सम्भाव्यता, (4) सहज विकास और (5) कुतूहल।

(1) एकान्विति

एकान्विति से अरस्तू का तात्पर्य यह है कि कार्य एक धुरी के रूप में विद्यमान रहे। प्रत्येक घटना इस धुरी का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग बनकर रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक घटना का कार्य के साथ ऐसा अटूट सम्बन्ध हो कि किसी भी घटना के इधर-उधर कर देने पर उसका सर्वाङ्ग ही छिन्न-भिन्न हो जाए। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि घटनाओं का कार्य के साथ अभिन्न सम्बन्ध तो हो ही किन्तु वे परस्पर भी सम्बद्ध हों। त्रासदी में कोई भी अनावश्यक घटना नहीं रखी जानी चाहिए।

(2) पूर्णता

त्रासदी वस्तुत. ऐसी कार्य की अनुकृति होती है जो समग्र एव सम्पूर्ण होता है। अतः कथानक मे पूर्णता का होना आवश्यक है। वह पूर्णता ऐसी भी नही होनी चाहिए जिसमे विस्तार का अभाव हो। फलतः पूर्णता से तात्पर्य यह है कि कथानक मे आदि, मध्य और अवसान की व्यवस्था होनी चाहिए। आदि से अरस्तू का तात्पर्य यह है कि 'आदि' वह है जो किसी हेतु का परिणाम नहीं होता अपितु जिसके पश्चात् स्वभावत कुछ विद्यमान होता है या घटित होता है। इसके विपरीत अवसान वह होता है जो स्वयम् तो अपरिहार्य रूप में किसी घटना का अनुवर्ती होता है किन्तु उसका अनुवर्ती कोई नही होता। मध्य वह होता है जो आदि और अवसान को जोडता है तथा वह स्वयं किसी घटना का अनुवर्ती होता है और कोई अन्य घटना उसकी अनुवर्ती होती है।

(3) सम्भाव्यता

सम्भाव्यता में दो बातो पर ध्यान दिया जाना चाहिए। एक तो यह कि नाटक में केवल उन्हीं घटनाओं को नही लिया जाना चाहिए जो घटित हो चुकी है बल्कि उन घटनाओं का भी नाटक मे सन्निवेश किया जाना चाहिए जो भविष्य में घटित हो सकती हैं। दूसरे, ऐसी किसी भी घटना को नाटक मे स्थान नही दिया जाना चाहिए जिसके घटित होने की सम्भावना ही न हो अर्थात् असम्भव का नाटक में कोई स्थान नही होना चाहिए।

(4) सहज विकास

अरस्तू का कहना है कि नाटक में घटनाओं का या इतिवृत्त का सहज-विकास होना चाहिए अर्थात् संवृत्ति, विवृत्ति, स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान की उद्भूति

कथानक मे से ही होनी चाहिए तथा घटनाक्रम एक दूसरी घटना का सहज परिणाम होना चाहिए, तभी दर्शक का मन उसे सहज रूप से ग्रहण कर सकेगा।

(5) कुतूहल

मानव मन कुतूहल वृत्ति का होता है। ग्रतः नाटककार को चाहिए कि वह कथानक का विन्यास इस प्रकार करे कि प्रेक्षक के मन में कुतूहल बना रहे कि आगे क्या होगा तथा उसके मन में परिणाम को जानने की उत्सुकता बनी रहे। इससे प्रेक्षक की कुतूहल वृत्ति का परितोष होगा जो नाटक की सफलता के लिए अनिवार्य है। इसके लिए यह आवश्यक होता है कि घटनाएँ प्रेक्षक के समक्ष अकस्मात् उपस्थित हो। यह प्रभाव उस स्थिति मे अधिक गहरा हो जाता है जब उनमें कार्य-कारण की पूर्वापरता भी सन्यस्त हो। ग्रतः स्पष्ट है कि नाटक मे कुतूहल बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है।

कथानक के भेद

यूनानी काव्य-शास्त्र के आधार पर प्रायः समस्त पाश्चात्य आचार्य नाटक के कथानक को दो वर्गों मे विभाजित करते हैं—(1) सरल कथानक और (2) जटिल कथानक।

(1) सरल कथानक

सरल कथानक वह होता है जिसका कार्य-व्यापार अविच्छिन्न रूप से लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है और जिसमें स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य परिवर्तन हो जाता है। सरल कथानक का कार्य एक ही होता है। उसमे किसी प्रकार द्विधा नही होती है। वह चरम लक्ष्य की ओर अकेला ही अग्रसर होता है।

(2) जटिल कथानक

जटिल कथानक मे तात्पर्य जटिल कार्य-व्यापार मे है। जटिल कार्य-व्यापार वह होता है, जहाँ पर भाग्य परिवर्तन स्थिति-विपर्यय या अभिज्ञान अथवा दोनो के सम्मिलित योग पर निर्भर करता है। जटिल कथानक न तो अकेला चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है और न ही उसका विकास सीधा होता है बल्कि उसमे अनेक जोड़-तोड एव घुमाओ का विधान किया जाता है। ऐसा कथानक इकहरा न होकर दोहरा-तिहरा तक होता है। जटिल कथानक के प्राय. दो अग होते हैं—(क) स्थिति विपर्यय और (ख) अभिज्ञान।

(क) स्थिति विपर्यय—स्थिति-विपर्यय एक ऐसा परिवर्तन होता है जिसमें व्यापार का व्यत्यय हो जाता है किन्तु यह निश्चित है कि ऐसा व्यत्यय सदैव आवश्यकता एवं सम्भावना के नियमो के अधीन होता है। स्थिति-विपर्यय में विषमता का तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। स्थिति-विपर्यय की प्रमुख विशेषता

यह होती है कि उसमें प्रेक्षक की इच्छा के विरुद्ध अप्रत्याशित रूप में ऐसा प्रसग उपस्थित हो जाता है कि अनजाने ही स्थिति उलट जाती है। ऐसा करना कुतूहल की दृष्टि से भी आवश्यक है।

(ख) **अभिज्ञान**—'अभिज्ञान' से तात्पर्य भूली हुई बात का प्रत्यक्षीकरण अर्थात् अज्ञान में ज्ञान की परिणति। इसमें अज्ञात तथ्य—महत्त्वपूर्ण रहस्य—के सहसा उद्‌घाटन के कारण कार्य की गति सर्वथा बदल जाती है। अनेक बार त्रासद स्थिति में कामद की सम्भावना हो जाती है। अभिज्ञान के अनेक रूप होते है; यथा—(1) स्थिति-विपर्यय से संयुक्त अभिज्ञान, (2) चिह्नों द्वारा अभिज्ञान, (3) आयोजित अभिज्ञान, (4) स्मृतिजन्य अभिज्ञान, (5) वितर्क द्वारा अभिज्ञान, (6) मिश्र अभिज्ञान, और (7) स्वाभाविक अभिज्ञान।

(2) चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण से तात्पर्य व्यक्ति या अनुकर्त्ता के गुण-दोषों के प्रदर्शन से है। संस्कृताचार्यों ने जिन तथ्यों का उद्‌घाटन 'नेता' तत्त्व के माध्यम से किया है अरस्तू ने उन्हीं तथ्यों का चरित्र-चित्रण शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन किया है। अरस्तू के अनुसार चरित्र की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि वह भद्र हो। इसे ही संस्कृत में 'उदात्त' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है। आपका कथन है कि जहाँ तक सम्भव हो, चरित्र नैतिकता का द्योतन कराने वाला हो। दूसरे, उसमें औचित्य का ध्यान रखा जाना चाहिए। आपके अनुसार पुरुष में शौर्य का चित्रण उचित है किन्तु नारी में शौर्य का प्रदर्शन अनुचित होगा। तीसरे, चरित्र जीवन के अनुरूप होना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अरस्तू नाटक में जीवन्त पात्रों की सृष्टि के समर्थक थे। इससे यह अर्थ भी समझा जा सकता है कि पात्र न तो अति-मानव हों और न ही अतिनिम्न अर्थात् कल्पनातीत पात्र न हों। लोक-जीवन के अनुरूप ही पात्रों की सृष्टि हो। चौथे, पात्रों के चरित्र में एकरूपता रहनी चाहिए अर्थात् जिस प्रकार के पात्र की प्रारम्भ में सृष्टि की गयी है उसी के अनुरूप उसका चारित्रिक विकास होना चाहिए। यदि कहीं किसी पात्र के चरित्र में परिवर्तन आवश्यक हो तो उस प्रकार के सस्कार का संकेत प्रारम्भ में ही दे दिया जाना चाहिए। पाँचवें, चरित्र में सम्भाव्यता का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। उसके चरित्र में असम्भव का समावेश नहीं किया जाना चाहिए। छठे, त्रासदी के चरित्र में आदर्श एवं यथार्थ का अनूठा सम्मिश्रण रहना चाहिए।

त्रासदी का नायक खलपात्र नहीं होना चाहिए क्योंकि खलपात्र का पतन प्रेक्षक के मन में त्रास को उत्पन्न नहीं कर सकता। नायक सर्वथा निर्दोष और नितान्त सज्जन भी नहीं होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के व्यक्ति के पतन से हमारी न्याय भावना को इतना भीषण आघात लगेगा कि करुणा और त्रास के भाव सर्वथा लुप्त हो जाएँगे। अत्यधिक दोष निर्मुक्त श्रद्धास्पद व्यक्ति के साथ प्रेक्षक तादात्म्य

स्थापित नहीं कर पाएँगे। त्रासदी का नायक सहज सामान्यजन होना चाहिए अर्थात् गुणाधिक्य के साथ कुछ दोष या दुर्बलतायुक्त। इस प्रकार नायक के गुण-दोषों का विस्तार से विवेचन पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में किया गया है।

(3) विचार तत्त्व

अरस्तू विचार तत्त्व के अन्तर्गत बुद्धि एवं भाव दोनों को समवेत रूप में ग्रहण करते हैं। इसे दो रूपों में ग्रहण किया जाना चाहिए, वस्तुगत रूप में और आत्मगत रूप में। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक लेखक के मन्तव्यों एवं उद्देश्य का वाहक होता है वह उसकी अभिव्यक्ति पात्रों के माध्यम से वस्तुगत रूप में करता है और कथानक, दृश्य-विधान, चरित्र-चित्रण के माध्यम से आत्मगत रूप में करता है। अरस्तू के अनुसार विचार-तत्त्व वहाँ विद्यमान रहता है जहाँ किसी वस्तु का भाव या अभाव सिद्ध किया जाता है या किसी सामान्य सत्य की व्यञ्जक सूक्ति का आख्यान किया जाता है।

(4) पदावली पदरचना

पदरचना से तात्पर्य है 'शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति अर्थात् अर्थ प्रतिपादक शब्द।' आपके अनुसार नाटक की भाषा अलंकृत होनी चाहिए। अलंकृत भाषा से अरस्तू का तात्पर्य है लय, ताल व संगीत के सामञ्जस्य से युक्त भाषा। वह चाहता है कि गद्य के साथ-साथ त्रासदी में पद्य का भी समावेश हो। अरस्तू चाहता है कि नाटक की भाषा समृद्ध हो, उदात्त हो किन्तु वागाडम्बरमयी न हो। उसमें अलंकृति, गरिमा और औचित्य का सहज समन्वय होना चाहिए। मुख्यतः नाटक की भाषा विषय-वस्तु, पात्र एवं त्रासदी के भव्य उद्देश्य के अनुरूप उदात्त होनी चाहिए।

(5) दृश्य-विधान

दृश्य विधान से तात्पर्य है रंगमञ्च के साधनों का कुशल प्रयोग। दृश्य विधान एक प्रकार से बाह्य प्रसाधन है और इसमें बाह्येन्द्रिय आकर्षण होता है। अरस्तू इसे त्रासदी के तत्त्वों में सबसे कम कलात्मक तत्त्व मानता है। एक तो इसकी पूर्णता दूसरों अर्थात् मञ्चशिल्पी के हाथ में होती है, दूसरे, इसके बिना ही त्रासदी के प्रबल प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। यहाँ पर अरस्तू का सम्भवतः पाठ्यनाटक की ओर संकेत है। उनका कहना है कि त्रासदी मूलतः काव्य है। अतः रंग कौशल से उसके प्रभाव में वृद्धि तो हो सकती है किन्तु वह स्वयं प्रभाव नहीं है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि दृश्य-विधान साधन है साध्य नहीं।

(6) गीत

अरस्तू गीत को त्रासदी का अभिन्न अंग मानकर चलते हैं किन्तु व्यवहार में ऐसा हो नहीं पाया और नाटककारों ने गीत को एक आभरण के रूप में ही स्वीकार किया। वृन्दगान तो नाटक में स्वतन्त्र सा ही लगता है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भारतीय कथा-वस्तु की कार्यावस्था के अनुरूप ही वस्तु-विकास की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं—(1) सूत्रपात (Exposition), (2) विकास (Incident) चरम स्थिति (climex) झुकाव (Denoument) अवसान (catastrophe)।

अधुना पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य में नाटक के छह तत्त्व स्वीकार किये जा चुके हैं—(1) कथावस्तु, (2) पात्र और चरित्र-चित्रण, (3) कथोपकथन, (4) देश-काल और वातावरण, (5) भाषा-शैली और (6) उद्देश्य। वैसे तो प्राचीन और नवीन तत्त्वों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, फिर भी इनमें प्रायः उन सभी रूपों एवं कार्यों को सरल ढंग से समाहित किया जा सकता है।

श्रव्यकाव्य विवेचन

श्रव्यकाव्य

श्रव्य-काव्य काव्य की उस विधा को कहते हैं जिसके काव्य को पढ़ कर अथवा सुनकर आनन्द लिया जाता है। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है, काव्य-रूपों का यह विभाजन ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर किया गया है; यथा—दृश्य काव्य मुख्यतः नेत्रों का विषय है और श्रव्य काव्य मुख्यत श्रवणेन्द्रिय का विषय है। दूसरी ओर काव्य की समस्त विधाएँ पाठ्य तो होती ही हैं। अन्तर केवल रस-बोध की त्वरा का है। आचार्यों ने श्रव्य काव्य को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(1) पद्य, (2) गद्य, और (3) चम्पू।

(1) पद्य काव्य

पद्य काव्य श्रव्य काव्य की उस छन्दोबद्ध रचना को कहते हैं जो व्यक्तिगत जीवन अथवा सामाजिक जीवन की रसात्मक व्याख्या प्रस्तुत करती है। यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि कोई रचना इस आधार पर पद्य-काव्य के अन्तर्गत परिगणित नहीं की जा सकेगी कि वह छन्दोबद्ध है। संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद एवं दर्शन के ऐसे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हो जाते हैं जो छन्दोबद्ध हैं किन्तु उन्हें काव्य की परिधि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनमें जीवन की रसात्मक व्याख्या नहीं है। अत. स्पष्ट है कि वही छन्दोबद्ध रचना पद्य-काव्य के अन्तर्गत परिगणित होगी जिसमें जीवन की रसात्मक प्रस्तुति होगी। विद्वानों ने विषय सामग्री, उसके गठन एवं शैली को आधार मानते हुए पद्य-काव्य को दो वर्गों में विभाजित किया है—(1) प्रबन्ध काव्य, और (2) अबन्ध काव्य अथवा मुक्तक काव्य।

(1) प्रबन्ध काव्य

'प्रबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति 'बन्ध' शब्द से पूर्व 'प्र' उपसर्ग लगा कर की जाती है जिसका अर्थ होगा वह क्रमबद्ध विवरण या चित्रण जो प्रकृष्ट हो, अर्थात् जीवन की क्रमबद्ध प्रकृष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने वाली रचना को प्रबन्ध काव्य कहा

जाएगा। 'शिशुपाल वध' महाकाव्य के रचयिता माघ ने प्रबन्ध की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः' अर्थात् अविच्छिन्न अर्थ सम्बन्ध को प्रबन्ध कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध काव्य में कथा या घटनाओं का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कर कार्य या उद्देश्य की सिद्धि की जाती है। इसे यों भी स्पष्ट किया जा सकता है कि किसी आदर्श पुरुष के समस्त जीवन या जीवन के किसी एक अंश की घटनाओं के सुसंगत बन्ध को प्रबन्ध काव्य कहा जाता है। इस आकलन से स्पष्ट है कि वही काव्य प्रबन्ध काव्य कहलाने का अधिकारी होगा जिसमें पूर्वापर सम्बन्ध से सुगठित कथाप्रवाह हो और वह कथाप्रवाह विशेष का होने पर भी मानव-जीवन का समुचित प्रतिनिधित्व करता हो, उसमें रस प्रदान करने की क्षमता हो। कहने का तात्पर्य यह है कि वह विशेष होकर भी सामान्य की या साधारण की व्याख्या कर सकता हो। उसमें जीवन के वे समस्त उत्थान-पतन हों जो सर्व सामान्य के जीवन में घटित हुए हों अथवा उनके घटित होने की सम्भावनाएं हों। इन तथ्यों के सफल परिपाक के लिए आचार्यों ने अनेक विधि-नियमों का विधान किया है, जिनका आश्रय लेकर कवि अपने कर्म की स्थापना में अधिकाधिक साफल्य-मण्डित हो सके। यों तो कवि को समस्त बन्धनों से परे एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व माना गया है क्योंकि आचार्यों ने 'निर्बन्धाः कवयः' कह कर इसकी पुष्टि की है फिर भी निर्णय का अधिकार भी अपने हाथों में सुरक्षित रखा है कि—'कवि करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः।' किसी भी काव्य के सत् या असत् होने का निर्णय आलोचक या आचार्य को ही करना पड़ता है। वह सम्बद्ध काव्य के गुणों और अवगुणों का लेखा-जोखा तैयार करता है जो भावी काव्यकर्मियों का मार्गदर्शन करता है। आचार्य शुक्ल के आधार पर हम प्रबन्ध काव्य के तीन महत्त्वपूर्ण लक्षणों या तत्त्वों का उल्लेख करना परमावश्यक समझते हैं। इसका कारण यह है कि प्रबन्ध काव्य का चाहे कोई भेद हो, उसमें प्रबन्ध काव्य के इन लक्षणों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। शेष लक्षण उस भेद के अपने लक्षण होंगे जिनके आधार पर वह अपने स्वतन्त्र स्वरूप या वैशिष्ट्य की सत्ता बनाए रखने में सफल रहता है। उक्त तीन लक्षण इस प्रकार हैं—(1) सुगठित कथावस्तु, (2) मार्मिक स्थलों का सम्यक् निरूपण, और (3) यथास्थान यथावश्यकता समुचित दृश्य-विधान।

(1) सुगठित कथावस्तु

यह तो प्रायः सर्वमान्य तथ्य हो गया कि प्रबन्ध काव्य में कोई न कोई कथा-सूत्र रहता है। उसके साथ अन्य अनेक घटनाओं और उपघटनाओं का सामञ्जस्य रहता है। फलतः प्रबन्ध काव्य की कथावस्तु की यह विशेषता होनी चाहिए कि उसमें आगत समस्त घटनाएँ शृंखलाबद्ध रूप में एक दूसरी से संगुम्फित रहें। कहीं पर शृंखला टूटने न पाए। घटनाएँ बिखरी-बिखरी सी प्रतीत न हों। इसके लिए

लेखक का यह दायित्व बन जाता है कि वह अपने प्रबन्ध काव्य में न तो किन्हीं अनावश्यक घटनाओं का समावेश करे और न ही आवश्यक घटनाओं को छोड़े। किसी प्रबन्ध-काव्य के पठन-पाठन के समय यह अनुभूति नहीं होनी चाहिए कि अमुक घटना को यदि ग्रन्थ में से निकाल भी दिया जाए तो काव्य के कलेवर में कोई अन्तर नहीं आएगा और न ही रस-बोध में व्यवधान पड़ेगा। साथ ही पाठक के मन में यह भाव भी नहीं आना चाहिए कि किसी घटना-विशेष के अभाव में ग्रन्थ में किसी प्रकार का कोई अभाव खटक रहा है और रस-बोध में व्यवधान पड रहा है। यह तो बात हुई घटनाओं के परित्याग एवं समावेश की। फिर यह देखना होगा कि कवि ने किसी व्यक्ति-विशेष एवं अन्य सहयोगी व्यक्तियों के जीवन की जिन घटनाओं का चयन किया है उनका परस्पर सम्बन्ध है और उन्होंने समवेत रूप में एक *शृंखला का रूप धारण कर लिया है और उसके उद्देश्य की ओर अग्रसर* होने में अपेक्षित प्रवाह में कहीं व्यवधान तो नहीं आ गया है।

प्राचीन आचार्यों ने प्रबन्ध-काव्य की वस्तु के संगठन के लिए भी कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों का विधान किया है। इससे कथावस्तु अत्यन्त संगठित हो जाती है तथा घटनाएँ कड़ियों के रूप में एक शृंखला का रूप धारण कर लेती हैं। कोई भी घटना असम्बद्ध नहीं रह पाती। फलत. वस्तु में बिखराव नहीं दिखाई देता। यही वस्तु की सर्वोपरि विशेषता होनी है।

(2) मार्मिक स्थलों का सम्यक् निरूपण

वैसे तो यह माना जाता है कि प्रबन्ध-काव्य का नायक प्रख्यात इतिहास-पुरुष होना चाहिए, जिसका व्यक्तित्व मानव जीवन के समस्त उत्थान-पतनों का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम हो, फिर भी यदि साधारण व्यक्ति को भी प्रबन्ध-काव्य का नायक बनाया जाए तो भी उसका व्यक्तित्व मानव-जीवन का प्रतिनिधित्व कर सकने की क्षमता वाला तो होना ही चाहिए अन्यथा प्रबन्ध काव्य की विफलता निश्चित है। ऐसे नायक के जीवन में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जो अत्यधिक मर्म-स्पर्शी होते हैं। प्रबन्धकार में ऐसे स्थलों की पहचान करने की क्षमता होनी चाहिए और साथ ही उसमें ऐसे स्थलों का मार्मिक एवं हृदयग्राही चित्रण करने की क्षमता भी होनी चाहिए। *ऐसे ही ये कुछ स्थल होते हैं जो किसी भी प्रबन्ध-काव्य की* आत्मा, प्राण या केन्द्र बिन्दु होते है। लेखक ऐसे स्थलों को भाषा का आश्रय लेकर मार्मिक रूप प्रदान कर देते हैं। मानस के नायक राम का कुछ ऐसा ही व्यक्तित्व है। उनके जीवन में राम और सीता का वन गमन, कौशल्या की मनोदशा, सीता-हरण, लक्ष्मण मूर्च्छा आदि ऐसे मार्मिक स्थल है कि महात्मा तुलसीदास ने उन्हे अत्यधिक आकर्षक एवं मर्मस्पर्शी बना डाला जबकि केशवदास जी इन स्थलों की पहिचान और इनके चित्रण में असफल सिद्ध हुए। कुछ ऐसे भी प्रतिभाशाली कला-कार होते हैं कि नायक के चरित्र को अथवा कथावस्तु को रोचक बनाने के लिए

ऐसे कुछ स्थलों की कल्पना कर उन्हें सुहावना बना देते हैं; यथा—रामचरितमानस का पुष्पवाटिका प्रसंग, साकेत का लक्ष्मण-ऊर्मिला संवाद, कामायनी का लज्जा सर्ग आदि। मानस का 'सीता-ग्राम-वधू' संवाद भी काल्पनिक है किन्तु इस प्रसङ्ग में भारतीय संस्कृति और नारी के लज्जा भाव का उच्च कोटि का दिग्दर्शन करवाया गया है। फलतः यह भी एक मार्मिक स्थल ही कहा जाएगा। केशव ने भी इस स्थल का उपयोग किया है किन्तु वे इसके महत्त्व को समझ नहीं पाये और इसके साथ न्याय नहीं कर सके।

(3) समुचित दृश्य-विधान

प्रबन्ध काव्य दृश्य काव्य न होकर श्रव्य काव्य होता है। फलत काव्यकार को शब्दों के आश्रय में कल्पना के सुहावने गुलदस्ते सजाने पड़ते हैं। प्रबन्ध काव्य का दृश्य-विधान स्वयं लेखक को करना पड़ता है न कि नाटक की भाँति किसी शिल्पी को। फलत यही वे कुछ प्रसंग होते हैं, जहाँ पर कवि की कल्पना-शक्ति और भाषा पर उसके अधिकार की पहिचान होती है। दृश्यों का विधान इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वे एक ओर तो कथा के सहज विकास में सहायक हों और दूसरी ओर पात्रों के चारित्रिक विकास को स्पष्ट करने की क्षमता रखते हों, अन्यथा वे दृश्य प्रबन्ध काव्य के साथ एकाकार नहीं हो पाएँगे और वे काव्य के अंग न होकर बाहर से ठूँसे हुए उपकरण से प्रतीत होने लगेंगे। इससे जहाँ एक ओर कथा-प्रवाह में बाधा उपस्थित होगी, वहाँ दूसरी ओर रसास्वादन में बाधक सिद्ध होंगे। दृश्य-विधान के अन्तर्गत प्रकृति-चित्रण, पर्व, उत्सव, त्यौहार, नगर, प्रासाद, षड्ऋतु वर्णन, बारहमासा आदि आते हैं। इन सबका यथावश्यकता यथास्थान विधान किया जाना चाहिए।

उक्त तत्त्वों से समन्वित प्रबन्ध-काव्य को चार वर्गों में विभाजित किया जाता है—(1) महाकाव्य, (2) खण्डकाव्य, (3) एकार्थ काव्य, और (4) आख्यायिका प्रधान काव्य।

(1) महाकाव्य—महाकाव्य को विद्वत्समाज न केवल प्रबन्ध-काव्य की अपितु समग्र काव्य की एक सर्वोत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण विधा मानता है। यही कारण है कि प्राचीन मनीषियों ने ही नहीं अपितु अद्यतन प्राच्य एवं पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य का अत्यन्त विस्तार एवं सूक्ष्मता से विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया है। विद्वानों का अभिमत है कि महाकाव्य किसी-किसी युग में ही लिखे जाते हैं, उनमें भी कालजयी महाकाव्य तो विरल ही होते हैं। महाकाव्य लिखने के लिए कवि में विचक्षण एवं अलौकिक प्रज्ञा का होना नितान्त आवश्यक है। उसमें उच्चकोटि के व्यक्तित्व का सन्निवेश भी अनिवार्य है।

महाकाव्य की परिभाषा—'महाकाव्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'काव्य' शब्द से

'महत्' विशेषण का प्रयोग कर कर्मधारय समास के रूप में की जाती है जिसका अर्थ होगा 'महान् है जो काव्य', उसे महाकाव्य कहते है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'काव्य' तो स्वयम् मे ही महत् होता है फिर उससे पूर्व 'महान्' शब्द जोड़ने की क्या आवश्यकता पड़ी। उत्तर सरल तो नही है, फिर भी इस प्रश्न को यों स्पष्ट किया जा सकता है कि समग्र रूप मे काव्य बहुआयामी विधा है, यहाँ तक कि जीवन का प्रत्येक साँस काव्य-संज्ञक होता है किन्तु उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए विषय-सामग्री, शैली, अर्थ आदि पर उसका विभाजन किया जाता है। उस विभाजन के आधार पर सापेक्षिक दृष्टि से कौनसी विधा अधिक रमणीय, लोक-प्रिय एवं प्रभावी है, आलोचना के क्षेत्र मे इस तथ्य का विवेचन भी अपेक्षित होता है। अतः उसी आधार पर जितने भी काव्य-रूप है, उनमें वह रूप, जो जीवन के समग्र की सार्वभौम, सार्वकालिक एव सार्वजनिक व्याख्या प्रस्तुत कर सकने मे समर्थ हुआ, उसे ही महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा। धीरे-धीरे विभिन्न काव्य-भेदों का स्वरूप स्पष्ट होने लगा और उनके लक्षण एव उपलक्षण निर्धारित किये जाने लगे। जब देखा गया है कि काव्य का वह रूप, जिसमे किसी प्रख्यात महापुरुष के समग्र जीवन को कथा-सूत्र में आबद्ध कर इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है जो व्यक्ति विशेष के जीवन का आख्यान न होकर समग्र मानव समाज के जीवन का प्रतिनिधित्व करता है, अन्य रूपों या विधाओं की तुलना मे अधिक प्रभावी, गम्भीर, विस्तृत एवं बहु आयामी है, तब विद्वानो, आचार्यों ने उस रूप की भूरि-भूरि प्रशसा की और उसे काव्य की अन्य विधाओं की तुलना में सर्वोत्कृष्ट होने के कारण महा-काव्य की संज्ञा से अभिहित किया। उस समय से लेकर आज तक भारतीय काव्य-शास्त्र में इसी शब्द का प्रचलन है। काव्य जीवन की व्याख्या है तो महाकाव्य उसका उन्नयन है। काव्य का मूल सौन्दर्य मे निहित है तो महाकाव्य उसमे 'सत्य और शिव' का भी दर्शन करता है। वस्तुतः महाकाव्य 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' की त्रिवेणी है, जिसमे अवगाहन करने से सहृदय सामाजिक रस-दशा को प्राप्त करता है। महाकाव्य की यह विशेषता होती है कि स्वयम् देश-काल की सीमा से मुक्त होता है और उसका पाठक 'स्व और पर' के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। फलतः ऐसी काव्य-विधा को महाकाव्य कहना सर्वथा औचित्य की सीमा मे आता है। प्राच्य एवं पाश्चात्य मनीषियों ने इसी कारण महाकाव्य के लक्षणों एवं उप-लक्षणों को निर्धारित करने मे सर्वाधिक श्रम किया है।

महाकाव्य के लक्षण—प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने सर्व-प्रथम इस काव्य विधा को 'सर्ग बन्ध' का नाम दिया था किन्तु धीरे-धीरे इस विधा का नाम महाकाव्य हो गया और 'सर्ग-बन्ध' हो गया इसका एक लक्षण। भारतीय काव्य-शास्त्र में सर्व प्रथम अग्नि पुराण मे महाकाव्य के लक्षण विस्तार से प्रस्तुत किये गये है जो इस प्रकार से हैं—

सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत् ॥
तादात्म्यमजहत्तत्र तत्समं नाति दुष्यति ।
इतिहास-कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ॥
मंत्रदूत-प्रयाणाजि-नियतं नातिविस्तरम् ।
शक्वर्याऽति जगत्याऽतिशक्वर्या त्रिष्टुभातथा ॥
पुष्पिताग्रादिभिर्वक्त्राभिर्जनैश्चारुभिः समैः ।
मुक्ता तु भिन्न वृत्तान्ता नाति संक्षिप्त-सर्गकम ॥
अति शक्वरिकाष्टम्यामेकं संकीर्णकैः परः ।
मात्रयाऽपरः सर्गः प्राशस्त्येषु च पश्चिमः ।
कल्पोऽति निन्दितस्तस्मिन् विशेषानादरः सताम् ।
नगरार्णव शैलर्तु—चन्द्रार्काश्रम-पादपैः ॥
उद्यान-सलिल क्रीडा—मधुपान रतोत्सवैः ।
दूती-वचन-विन्यासैरसती-चरिताद्भुतेः ॥
तमसा मरुताऽप्यन्यैर्विभावैरतिनिर्भरैः ।
सर्व-वृत्ति-प्रवृत्तं च सर्वभाव-प्रभावितम् ॥
सर्व रीति रसैः स्पृष्टं पुष्टं गुण विभूषणैः ।
अतएव महाकाव्यं तत्कर्त्ता च महाकविः ॥
वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
पृथक् प्रयत्न निवर्त्य वाग्विक्रमणि रसाद्वपुः ॥
चतुर्वर्गफल विश्वव्याख्यात नायकाख्यया ।
समानवृत्ति-निर्व्यूढः कैशिकी-वृत्ति-कोमलः ॥

अर्थात्—(i) सर्ग रचना को महाकाव्य कहते हैं। इसका प्रारम्भ संस्कृत भाषा से होना चाहिए।

(ii) महाकाव्य के स्वरूप का त्याग न करते हुए उसी के समान अन्य रचना भी हो (अर्थात् संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा की रचना) तो दूषित नहीं मानी जाती।

(iii) महाकाव्य का इतिवृत्त ऐतिहासिक होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उत्तम आश्रय के आधार वाला इतिवृत्त हो सकता है।

(iv) उसमें यथास्थान गुप्त मन्त्रणा, युद्ध प्रस्थान, अभियान आदि का

वर्णन रहना चाहिए किन्तु ये अधिक विस्तृत नही होने चाहिए और स्थान नियत रहना चाहिए।

(v) महाकाव्य मे शक्वरी, अतिशक्वरी, अति जगती, त्रिष्टुभ, पुष्पिताग्रादि, वक्त्रादि मनोहर छन्दो का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(vi) सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तित कर देना चाहिए। सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त नही होने चाहिएँ।

(vii) अति शक्वरी और अष्टि, इन दो छन्दों से एक सर्ग संकीर्ण होना चाहिए और अगला सर्ग मात्रिक छन्दो से संकीर्ण होना चाहिए।

(viii) उत्तरोत्तर सर्ग अधिकाधिक प्रशस्त अथवा उत्तम होने चाहिएँ।

(ix) महाकाव्य में कल्प अत्यन्त निन्दित माना गया है क्योंकि उसमे सज्जन पुरुषो का आदर नही होता।

(x) महाकाव्य में नगर, वन, शैल, ऋतु, चन्द्र, सूर्य, आश्रम पादप, उद्यान, जल क्रीड़ा, मधुपान, रत्युत्सव, दूती वचन-विन्यास, कुलटा नारियो के चरित्र आदि का वर्णन होना चाहिए।

(xi) महाकाव्य अन्धकार, वायु तथा अन्य विभावादि से अलङ्कृत रहना चाहिए।

(xii) महाकाव्य में सर्वप्रकार की वृत्तियो की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

(xiii) महाकाव्य सभी प्रकार की रीतियों, रसों, गुणों आदि से विभूषित होना चाहिए।

(xiv) महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चतुर्वर्ग की प्राप्ति होनी चाहिए।

(xv) महाकाव्य का नामकरण नायक के नाम पर होना चाहिए।

(xvi) महाकाव्य कैशिकी वृत्ति के प्रयोग से कोमल रूप धारण करता है।

(xvii) महाकाव्य में वक्रोक्ति की प्रधानता होने पर भी रस ही उसकी आत्मा होती है।

अग्निपुराणकार द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त लक्षणो से महाकाव्य का अन्तर और बाह्य स्वरूप लगभग स्पष्ट हो जाता है। इसके कुछ *लक्षण महाकाव्य की आत्मा* का विधान करते हैं; यथा—महाकाव्य में रस योजना, गुणो की पुष्टि, और चतुर्वर्गफल प्राप्ति। शेष लक्षण उसके बाह्य स्वरूप का निर्माण करते हैं। इस प्रसग मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अग्नि-पुराणकार महाकाव्य के इतिवृत्त की सूक्ष्म व्याख्या करने मे असफल रहा है और उसका छन्दों के प्रति अधिक आग्रह रहा है। अग्निपुराणकार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में महाकाव्य मे दृश्य-विधान का प्रबल समर्थक प्रतीत होता है। सर्गो के समान विस्तार और उत्तरोत्तर उत्तमता की बात कह कर अग्निपुराणकार अप्रत्यक्ष रूप में कथा के सुष्ठु विकास की भी स्थापना

करता है तथा साथ ही उसमें शृंगार रस के प्राधान्य का संकेत भी देता है। रीतियों और वृत्तियों के समावेश का विधान कर उसने सुसंस्कृत, परिमार्जित एवं अलकृत भाषा के प्रयोग का भी विधान कर दिया है। इस प्रसंग मे मेरा मन्तव्य यह है कि अग्निपुराणकार ने अपने विवेचन से आगे के आचार्यों का मार्ग ही प्रशस्त नहीं किया है वल्कि महाकाव्य के अधिक सूक्ष्म लक्षणों को प्रस्तुत करने के लिए उन्हें प्रेरित भी किया है।

अग्निपुराण के पश्चात् दण्डी का काव्यादर्श, ईशान संहिता, विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण, मम्मट का काव्य-प्रकाश, हेमचन्द्र का काव्यानुशासन ग्रन्थ विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं। इनमे विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' का स्थान सर्वोपरि है। विश्वनाथ को यह लाभ अवश्य मिला है कि उनके साहित्य मञ्च पर अवतरित होने तक काव्य का पर्याप्त मात्रा मे विवेचन एवं विश्लेपण हो चुका था। विश्वनाथ ने अपनी सारग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा उनके उच्चतम निष्कर्षों के परिपार्श्व में अपने सम्यक् चिन्तन की सहायता से महाकाव्य के लक्षणों का क्रमबद्ध प्रणाली से सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है।

दण्डी ने 'काव्यादर्श' में अग्निपुराण का अनुकरण करते हुए भी महाकाव्य के कुछ नवीन लक्षणों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं—

(i) महाकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण, आशीर्वचन, स्तुति, अथवा कथावस्तु के निर्देश से होना चाहिए।

(ii) महाकाव्य मे अलंकारों का सम्यक् सन्निवेश होना चाहिए जिससे वह कल्पान्तर स्थायी रूप ग्रहण कर सके।

(iii) महाकाव्य का इतिवृत्त विभिन्न वृत्तान्तों से संयुत लोकरञ्जनकारी होना चाहिए।

(iv) उसने नायक के धीरोदात्तादि स्वरूप का भी संकेत दिया है।

(v) उसने वियोग शृंगार एवं विवाहादि उत्सवों का महाकाव्य मे सन्निवेश करने का भी विधान किया है।

जहाँ दण्डी ने उपर्युक्त नवीन अवधारणाओं का विधान महाकाव्य मे किया है, वहाँ अग्निपुराणकार के छन्द-विधान को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया है। दूसरे महाकाव्य मे रस की स्थिति का जितना सशक्त विधान अग्निपुराणकार ने किया है उतना दण्डी ने नहीं किया। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि दण्डी अलंकारवादी आचार्य थे। फिर भी सामान्य रूप से 'रस भाव समन्वितम्' कह कर रस का संकेत अवश्य दिया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दण्डी महाकाव्य में उसके कलात्मक पक्ष को अधिक उजागर करते हैं। उनका मूल पाठ इस प्रकार है—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलोपेतं, चतुरोदात्त नायकम् ।।
नगरार्णव-शैलर्तु-चन्द्रार्कोदय-वर्णनैः ।
उद्यान सलिलक्रीड़ा-मधुपान रतोत्सवैः ।।
विप्रलम्भैः विवाहैश्च कुमारोदय वर्णनैः ।
मन्त्रद्यूत-प्रयाणाजि-नायकाभ्युदयैरपि ।।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रस भाव निरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ।।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः ।।

दण्डी के पश्चात् 'ईशान-संहिता' मे महाकाव्य में सर्गो की संख्या निर्धारित की गयी है । इसके अनुसार महाकाव्य मे कम से कम आठ सर्ग और अधिक से अधिक तीस सर्ग होने चाहिए । मात्र यही विशेषता इस ग्रन्थ की है । 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में दण्डी के काव्य लक्षणो को ही रखा गया है । उसमे किसी भी प्रकार की कोई नवीनता दृष्टिगोचर नही होती । यही स्थिति हेमचन्द्र की है । उसने महाकाव्य के लक्षणो को सूत्र रूप मे ही प्रस्तुत किया है ।

काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में मम्मट ने किञ्चित् नवीनता के साथ महाकाव्य के लक्षणों का निदर्शन किया है परन्तु समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों के निष्कर्षों को ग्रहण कर तथा अन्य नवीन लक्षणो का समावेश कर विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्य-दर्पण' में महाकाव्य के जो लक्षण प्रस्तुत किये है उन्हें पूर्ण मान्यता प्राप्त हुई । आजकल हिन्दी साहित्य मे भी साहित्य-दर्पण मे प्रदत्त अनेक लक्षणों को ज्यों का त्यो स्वीकार कर लिया गया है । हाँ ! उनके द्वारा प्रदत्त महाकाव्य के बाह्य लक्षणों को विशेष महत्त्व हिन्दी साहित्य मे नही दिया गया; यथा—उनके सर्ग या वृत्त सम्बन्धी लक्षण अथवा मंगलाचरण आदि । आचार्य विश्वनाथ कविराज के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षण इस प्रकार हैं—

सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैको नायकः सुरः ।।315।।
सद्वंशःक्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।।316।।
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।

अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक संधयः ।।317।।
इतिहासोद्‍भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलंभवेत् ।।318।।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।।319।।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।।320।।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।।321।।
सन्ध्या सूर्येन्दु रजनीप्रदोषध्वान्त वासराः ।
प्रातर्मध्याह्न-मृगया शैलर्तु वन सागराः ।।322।।
संभोग विप्रलम्भौ च मुनि स्वर्ग पुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयम-मन्त्र पुत्रोदयादयः ।।323।।
वर्णनीया यथायोग्य सांगोपागा अमीइह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।।324।।
नामास्य सर्गोपादेय-कथया सर्ग नाम तु ।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यान संज्ञकाः ।।325।।

अर्थात्—महाकाव्य सर्गबन्ध होता है और उसका नायक, देव, अथवा सद्वंश मे उत्पन्न क्षत्रिय होता है जो धीरोदात्त नायक के गुणो से अलंकृत हो। इसमे एक कुल मे ही उत्पन्न राजाओं के चरित्र का चित्रण किया जाता है। शृंगार, वीर और शान्त रसो मे से कोई एक रस अगी रस के रूप मे समायोजित किया जाता है और अग रूप में अन्य समस्त रसो की योजना की जाती है। महाकाव्य की कथावस्तु मे समस्त नाटक-सन्धियों का संगुम्फन किया जाता है। महाकाव्य का इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध होना चाहिए अथवा किसी अन्य सज्जन पुरुष से सम्बद्ध होना चाहिए। महाकाव्य मे चतुर्वर्गफलो मे से किसी एक फल की सिद्धि या प्राप्ति का विधान होना चाहिए। महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्कार (मंगलाचरण), आशीर्वचन अथवा वस्तु के निर्देश से होना चाहिए। तत्पश्चात् दुष्ट पुरुषो की निन्दा और सज्जन पुरुषो के गुणो के सकीर्तन का विधान किया जाना चाहिए। एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए किन्तु सर्ग के अन्त मे वृत्त को परिवर्तित कर देना चाहिए। समस्त सर्ग न तो अत्यन्त छोटे और न ही अत्यन्त विस्तृत होने चाहिए और उनकी संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए। कुछ महाकाव्यों मे अनेक छन्दोयुत

सर्ग भी होते है। सर्ग के अन्त मे भावी सर्ग की कथा की सूचना का विधान होना चाहिए। संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन-उपवन, सागर, सम्भोग, विप्रयोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम यात्रा, विवाह, सामाद्युपायचतुष्ट्य, पुत्र जन्म आदि का सांगोपांग अथवा यथावश्यकता वर्णन किया जाना चाहिए। महाकाव्य का नामकरण, कवि के नाम पर, वर्ण्य विषय-सामग्री के आधार पर अथवा अन्य किसी आधार पर किया जाना चाहिए। महाकाव्य में सर्ग में वर्णित विषय-वस्तु के आधार पर सर्गो का नाम भी रखा जाना चाहिए। प्राचीन ऋषियों द्वारा वर्णित सर्गबन्ध प्रकार आख्यान मे भी विभाजित किया जाता है।[1]

साहित्य-दर्पणकार द्वारा वर्णित महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर महाकाव्य के निम्नलिखित तत्वों का निर्धारण किया जा सकता है—(1) कथावस्तु, (2) नायक एवं चरित्र चित्रण, (3) रस, (4) छन्द, (5) दृश्य-विधान, (6) नाम और (7) फल।

हिन्दी साहित्य में लिखे गये महाकाव्यो के विवेचन एवं विश्लेषण के लिए महाकाव्य के तत्वो के अन्तिम निर्धारण से पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पाश्चात्य विद्वानो के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों का भी परिचय प्राप्त कर ले। कारण स्पष्ट है कि हमारे आधुनिक महाकाव्य जितने प्राचीन भारतीय महाकाव्यो से प्रभावित हैं उतने ही पाश्चात्य महाकाव्यों के लक्षणो से भी प्रभावित हुए है। फलतः उक्त महाकाव्यो के विवेचन के लिए हमे भारतीय एव पाश्चात्य महाकाव्य-लक्षणों के समवेत रूपों के आधार पर किन्ही तात्त्विक सिद्धान्तों की स्थापना करनी होगी, तभी हम अपने आधुनिक महाकाव्यो के साथ न्याय कर पाएँगे अन्यथा हमारी स्थापनाएँ एकांगी बन कर रह जाएँगी।

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य स्थापनाएँ

जिस प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्र मे भरत का नाम सर्वोपरि है उसी प्रकार पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में अरस्तू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे 'एपिक' शब्द महाकाव्य का पर्यायवाची माना जा सकता है। 'एपिक' शब्द का विकास 'एपोस' से हुआ है, जिसका अर्थ होता है 'शब्द' किन्तु कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग कथा-काव्य के लिए किया जाने लगा। अरस्तू यद्यपि काव्य मे नाटक (त्रासदी) को सर्वोपरि मानते हैं तो भी एपिक (महाकाव्य) को भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना स्वीकार करते हैं। अरस्तू ने महाकाव्य के लक्षणो का चित्रण इस प्रकार किया है—

(i) अरस्तू के अनुसार जो नियम त्रासदी के लिए अपेक्षित है उन्हीं नियमों की अनुपालना महाकाव्य मे भी की जानी चाहिए।

(ii) महाकाव्य उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण होना चाहिए जो स्वतः गम्भीर, पूर्ण, वर्णनात्मक एवं सुन्दर शैली में रचा गया हो।

(iii) जिसमें आद्यन्त एक ही छन्द हो।

(iv) जिसमे त्रासदी की तरह कथानक आदि, मध्य, अवसानयुत हो।

(v) जिसके चरित्र श्रेष्ठ हों एवं कथा स्वाभाविक हो।

(vi) महाकाव्य मे अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण दैवीय घटनाओ का समावेश किया जा सकता है किन्तु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि वे अस्वाभाविक न हो जाएँ।

(vii) महाकाव्य मे सत्य के शाश्वत स्वरूप का उद्घाटन किया जाता है।

अरस्तू के कथनो का अंग्रेजी अनुवाद कुछ इस प्रकार मे उपलब्ध होता है—

(i) Epic poetry agrees so far with Tragic as it is imitation of great characters and actions by means of words.[1]

(ii) The Poet should prefer impossibilities which appear Probable to such things, as though possible, appear improbable, Far From Producing a plan made up of improbable incidents, he should, if possible, admit no one Circumstance of that kind or, if he does it, it should be Exterior to the action itself.

(iii) But the Epic imitation, being narrative admits of many such simultaneous incidents, properly related to the subject which swell the Poem to a considerable size.

—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त एवं मूल्याङ्कन, पृष्ठ 16, 17, पर उद्धृत

अरस्तू के पश्चात् अनेक विद्वानों ने एपिक (महाकाव्य) पर अपने विचार प्रकट किये हैं जिनमे ली वस्सु, लार्ड कैम्स, हाब्स, बावरा, एल. एबर क्रॉम्बे, टिलीयार्ड, कैसेल वेत्रो, वेकरनेजल, आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनमे भी टिलीयार्ड और हिगेन ने महाकाव्य के स्वरूप पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। टिलीयार्ड के अनुसार—

(i) महाकाव्य की प्रथम आवश्यकता है उत्तमकोटि की गम्भीरता किन्तु सरल रचना।

(ii) महाकाव्य की दूसरी आवश्यकता को व्यापकत्व, बृहदायामत्व विस्तार जैसी अस्पष्ट शब्दावली मे व्यक्त किया जा सकता है।

(iii) महाकाव्य मे मानवीय भावनाओ और विश्वासों का अलौकिक चित्रण मानव सभ्यता को विकसित करने मे सहयोगी होना चाहिए।

(iv) महाकाव्य मे समसामयिक मानव-समुदाय की भावनाओं की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। हाब्स महाकाव्य को केवल राष्ट्रीय भावनाओ की अभिव्यक्ति तक

1. हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त एवं मूल्याकन पृष्ठ 16, 17 पर उद्धृत।

सीमित रखना नहीं चाहते। उनके अनुसार महाकाव्य समसामयिक मानव-समुदाय की भावनाओं का प्रतिनिधि होना चाहिए।

(v) सच्चा महाकाव्य वीरतामूलक प्रभाव को जन्म देता है।

(vi) महाकाव्यकार को जीवन की सर्वांगीण व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करनी चाहिए कि उससे उसकी वास्तविक एवं सच्ची प्रतिभा का भान लोगों को हो और वे चाहें कि लेखक अपनी बात कहता चले।

टिलीयार्ड ने महाकाव्य के लक्षणों को प्रस्तुत करते हुए सर्वाधिक बल इस पर दिया है कि महाकाव्य सार्वजनीन एवं सार्वभौम होना चाहिए और उसमें तत्कालीन समाज की भावनाओं का, विश्वासों का सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत होना चाहिए जो अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण तो हो किन्तु अविश्वसनीय न हो।

प्रसिद्ध दार्शनिक 'हीगल' ने भी प्रसंगवश महाकाव्य पर विचार किया और उसके लिए अनेक लक्षणों का विधान किया है। उनके अनुसार—

(i) महाकाव्य में लेखक अपने 'स्व' को प्रतिष्ठित रखते हुए उसकी रचना इस प्रकार करे कि उसका आधार सार्वभौम एवं सार्वजनिक बना रहे।

(ii) महाकाव्य का नायक मानव भावनाओं का प्रतिनिधि एवं सार्वभौम गुणों से समन्वित होना चाहिए जो अपनी चेतन-सत्ता के बादलों को पार कर सार्वभौम सत्ता में अपने आपको विलीन कर दे।

उपर्युक्त दोनों लक्षण महाकाव्य के इतिवृत्त और नायक के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं, जिनसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि हीगल के अनुसार महाकाव्य काव्य की वह विधा है जो देशकाल के बन्धनों को विच्छिन्न करती हुई विश्व मानवता का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम हो। वह सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन रचना होनी चाहिए।

हिन्दी-साहित्य के कुछ आलोचकों ने भी महाकाव्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं जिनमें आचार्य शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय और डॉ. नगेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार, 'महाकाव्य के आवश्यक अंग हैं—इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार वर्णन, भाव-व्यञ्जना और संवाद। इनमें भी आप 'मार्मिक स्थलों के मर्मस्पर्शी चित्रण' को अधिक महत्त्व देते हैं। साथ ही प्रसंगानुकूल भाषा की महत्ता पर भी जोर देते है।[1]

डॉ. श्यामसुन्दर के अनुसार 'महाकाव्य में एक महत् उद्देश्य का होना अनिवार्य है। संस्कृत के साहित्य-शास्त्रों में महाकाव्य के आकार-प्रकार और वर्णन विषय के सम्बन्ध में बड़ी जटिल और दुरूह व्याख्याएँ की गयी है जिनका आधार

1. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 131.

लेकर लिखने मे बहुत से महाकाव्यों के शरीर अब संघटित हो गये हैं; पर उनमें बहुत थोड़े से ऐसे हैं जो आत्मा के किसी उदात्त आशय, सभ्यता के किसी युग-प्रवर्तक संघर्ष अथवा समाज की किसी उद्वेगजनक स्थिति को लेकर किसी प्रकाण्ड विचारक या कवि द्वारा लिखे गये हों; जिन्हें जातीय इतिहास मे अनिवार्य स्थान सुलभ हो सके। रामायण, महाभारत, रामचरित मानस आदि की कोटि के सच्चे महाकाव्य शताब्दियो मे दो-एक लिखे जाते है।[1] डॉ. श्यामसुन्दर के उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे महाकाव्य में, महद् उद्देश्य, उदात्त आशय, सभ्यता के युग-प्रवर्तक संघर्ष और समाज की उद्वेगजनक स्थिति के चित्रण को महत्त्व देते है।

बाबू गुलाबराय ने जातीय जीवन के उदात्त कार्यों पर बल देते हुए महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार निर्धारित किया है—महाकाव्य वह विषय-प्रधान काव्य है जिसमे अपेक्षाकृत बडे आकार मे जाति मे प्रतिष्ठित और लोक-प्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओ, आदर्शों और आकाक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।[2]

डॉ नगेन्द्र ने पाश्चात्य एवं प्राच्य आचार्यों के मन्तव्यों से निष्कर्ष निकालते हुए महाकाव्य के मूलभूत तत्त्वो की स्थापना करने का प्रयास किया है। आपका कथन है कि 'मै महाकाव्य के उन्ही मूल तत्त्वों को लेकर चलूँगा जो देश-काल-सापेक्ष नही हैं, जिनके अभाव मे किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नही बन सकती और जिनके सद्भाव मे परम्परागत शास्त्रीय लक्षणो की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वञ्चित नही किया जा सकता। ये मूल तत्त्व हैं—(i) उदात्त कथानक, (ii) उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य, (iii) उदात्त चरित्र, और (iv) उदात्त भाव और उदात्त शैली।[3]

पूर्व वर्णित समस्त आचार्यों के विचारो को दृष्टिगत रखते हुए आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे महाकाव्य की परिभाषा और उसके लक्षणो का निर्धारण करने का प्रयास इन पृष्ठो मे किया जाएगा। महाकाव्य मूलत. काव्य है। अत: उसमे उन तत्त्वो का सन्निवेश तो होगा ही जो काव्य के मूलभूत तत्त्व हैं। फलतः उनका पिष्ट पेषण करना समीचीन नही कहा जा सकता। उदाहरणार्थ बाबू श्यामसुन्दर दास का उदात्त उद्देश्य, डॉ. नगेन्द्र का उदात्त भाव और उदात्त शैली आदि लक्षण ऐसे ही है, जिनको महाकाव्य के प्रसंग मे गिनाने की कोई आवश्यकता नही है क्योंकि यह तो स्वत काव्य की ही मूल धारणा है। उपर्युक्त लक्षणो के अभाव में

1. श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन, पृष्ठ 94–95.
2. काव्य के रूप, पृष्ट 89.
3. डॉ नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृष्ठ–135.

वह महाकाव्य तो क्या, काव्य ही नहीं रह जाएगा। महाकाव्य के प्रसंग मे हमें उन विशेषताओं का अंकन करना चाहिए जो उसे काव्य की अन्य विधाओं की तुलना में पृथक् एवं विशिष्ट विधा का स्थान प्रदान करते है। मेरी दृष्टि में गद्य-काव्य मे जो स्थान उपन्यास का है, पद्य काव्य मे वही स्थान महाकाव्य का है। इन दोनों विधाओं का पार्थक्य छन्द पर निर्भर करता है। एक छन्दोविहीन रचना है और दूसरी छन्दयुत रचना है। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या किसी उपन्यास को उसी रूप में जिस रूप मे वह है छन्दोबद्ध कर दिया जाए तो वह महाकाव्य हो जाएगा ? उत्तर होगा—नही ! क्योंकि इनके पार्थक्य का एक तत्त्व और है और वह है :—कथावस्तु—चयन और उसका सगठन। दोनों ही विधाओं में यद्यपि कथावस्तु का होना एक अनिवार्य आवश्यकता है किन्तु कथावस्तु के चयन और उसके गठन में अन्तर है। उपन्यास की कथावस्तु चाहे ऐतिहासिक हो, चाहे काल्पनिक, उसमें सामयिकता का प्राधान्य रहता है और रहना चाहिए, जबकि महाकाव्य के कथानक में सामयिकता प्रासगिक होती है और सार्वभौमता का प्राधान्य रहता है। यदि कोई उपन्यासकार अपने कथानक मे इस तत्त्व की प्रधानता स्थापित कर देता है तो निश्चय ही वह गद्य शैली मे लिखित महाकाव्य ही होगा। बाणभट्टकृत कादम्बरी को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि महाकाव्य का दूसरा विशिष्ट तत्त्व है उसका कथानक। महाकाव्य का तीसरा वैशिष्ट्य है उसमे निहीत रस योजना या भाव-व्यञ्जना। मैं जिस अर्थ मे 'भाव-व्यञ्जना' शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ वह डॉ. नगेन्द्र के उदात्त भाव से भिन्न है। मेरा यह मन्तव्य है कि महाकाव्य ही एक ऐसी विधा है जिसमे मानव-जीवन के समस्त प्रकार के भावों, उद्वेगों, मनोवेगो को समग्र रूप में एक साथ व्यक्त करने का अवकाश रहता है। यह स्थिति काव्य की अन्य विधाओं मे पूर्णतया सम्पन्न नही हो सकती। कारण स्पष्ट है—मुक्तक काव्य एक समय में एक ही भाव की व्यञ्जना कर सकता है। नाटक में उसका दृश्य-तत्त्व बाधक है और उपन्यास मे उसकी शैली एव कथानक का चयन बाधक है। उधर खण्ड काव्य और कहानी एक देशीय होते हैं अर्थात् उनमें समग्रता का अभाव रहता है। महाकाव्य का चौथा वैशिष्ट्य है उसका 'नायक'। उपन्यास का 'नायक' साधारण और विशिष्ट दोनों प्रकार का हो सकता है जबकि सच्चे और कालजयी महाकाव्य का नायक भी कालजयी और समाज तथा संस्कृति का प्रतिनिधि ही नही अपितु समस्त मानव समाज का प्रतिनिधि होता है। एक तो उसका चरित्र ही महान् होता है, दूसरे, वह कवि-कल्पना का सस्पर्श पाकर और भी चमक उठता है। ऐसे व्यक्तित्व यदा-कदा ही जन्म लेते हैं और युग निर्माता बन जाते है। पंचम और अन्तिम वैशिष्ट्य यह है कि महाकाव्य का लेखक विचक्षण प्रतिभा का धनी होता है। वह सत् और असत्, अच्छाई और बुराई, उत्थान और पतन, राग और द्वेष आदि की समान अनुभूति करने मे सक्षम होता है। वह अपने आपको राम के चरित्र में ढाल सकता है तो वह रावण के रूप मे प्रस्तुत होने की

क्षमता रखता है। वह जितनी क्षमता से शृंगार रस की सृष्टि कर सकता है, उतनी ही क्षमता से शान्त रस को भी अवतरित कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कवि बहुआयामी एवं बहुमुखी प्रतिभा का धनी होकर ही वह आयामी महाकाव्य का सर्जन कर सकता है।

उपर्युक्त समस्त आकलन के पश्चात् हम महाकाव्य को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं—महाकाव्य लोक-विश्रुत कथानक में आबद्ध देश-काल निरपेक्ष वह रचना है, जिसमें विश्व-मानवता के भावों एवं विश्वासों का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखने वाले किसी महत् व्यक्ति को चित्रित किया जाता है। महत् व्यक्तित्व से मेरा तात्पर्य उस चरित नायक से है, जिसके जीवन के उत्थान-पतन, सुख-दुःख विश्व संस्कृति के उत्थान-पतन और विश्व मानव के सुख-दुःख के परिचायक होते हैं। इस आधार पर महाकाव्य के निम्नलिखित तत्त्वों का निर्धारण किया जा सकता है—

(i) इतिहास एवं लोक विश्रुत कथानक,
(ii) धीरोदात्त नायक,
(iii) भावानुकूल भाषा एवं छन्द,
(iv) सार्वभौम भाव-व्यञ्जना,
(v) समुचित दृश्य-विधान अथवा वस्तु-व्यापार वर्णन।

मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त तत्त्वों के सन्निवेश से विनिर्मित किसी भी रचना को बिना किसी हिचकिचाहट के महाकाव्य की श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है। इस प्रसंग में इतना और कह देना वाञ्छनीय होगा कि उपर्युक्त समस्त तत्त्वों का महाकाव्य में इस प्रकार सन्निवेश किया जाना चाहिए कि वह कृति समग्रता या पूर्णता के भाव को प्रकट करने में समर्थ हो सके। उसमें बिखराव न हो।

इतिहास एवं लोक विश्रुत कथानक

महाकाव्य के कथानक का चयन पुराण या इतिहास से ही किया जाना चाहिए क्योंकि मानव-समुदाय संस्कारों का पुतला होता है। उसकी अपने पूर्वजों और पुराण-पुरुषों के प्रति आस्था होती है। कवि उनका आधार लेकर विश्व मानवता को किसी भी दिशा में उन्मुख कर सकता है। यदि लेखक अमित प्रतिभावान् है तो वह प्राचीन इतिवृत्त को नवीन रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है। रामायण के मर्यादा पुरुषोत्तम राम को पूर्ण ब्रह्म राम के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय क्या महात्मा तुलसीदास को नहीं जाता है। इतिवृत्त पौराणिक एवं लोक-विश्रुत होने के कारण ही ऐसा सम्भव हो पाया। यदि तुलसी किसी काल्पनिक इतिवृत्त से ऐसा करते तो समाज उसे कदापि स्वीकार नहीं करता। इसके विपरीत मोहनलाल द्विवेदी ने बापू को अवतार के रूप में चित्रित करने का प्रयास तो सफल किया है किन्तु वे जन-मानस में इसे इसी रूप में नहीं उतार पाये क्योंकि बापू के

प्रति श्रद्धा और सम्मान होते हुए भी लोग उक्त धारणा को संस्कार रूप में अपने आप में स्थापित नहीं कर पाये थे। अतः निश्चित है कि महाकाव्य के लिए इतिवृत्त के चयन में अत्यन्त चातुर्य एवं नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा की आवश्यकता होती है। इसीलिए प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत् के प्राचीन मनीषियों ने 'विश्रुत' शब्द पर अत्यधिक बल दिया है, क्योंकि कोई भी इतिवृत्त तब तक लोक-विश्रुत नहीं हो पाता, जब तक कि उसके प्रति मानव-संस्कार स्थापित नहीं हो जाते। ऐसे संस्कार ऐतिहासिक या पौराणिक इतिवृत्तों के प्रति ही प्रतिष्ठित होते हैं।

कथानक की दूसरी आवश्यकता है उसके संगठन की क्योंकि महापुरुषों का इतिवृत्त समाज-सापेक्ष होता है। उसमें उसका जीवन ही समाहित नहीं होता बल्कि समाज-सापेक्ष विभिन्न इतिवृत्त एवं घटनाएँ भी उस इतिवृत्त के साथ जुड़ी हुई होती हैं। उन्हें सुसंगठित एवं शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत करना ही कवि की मेधा का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। तीसरे, कवि कल्पना से सम्भूत घटनाएँ एवं विचार भी उसमे समाहित किये जाते हैं, जिससे कथानक मे पूर्णता आ जाए और वह सार्वभौम रूप धारण कर सके। इसके लिए भारतीय आचार्यों ने कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों का विधान किया है तो पाश्चात्य आचार्यों ने कार्यावस्थाओं, एकान्विति, पूर्णता, सम्भाव्यता जैसे नियमों की स्थापना की है। इसका कारण यह है कि ऐसा होने पर महाकाव्य का पाठकों पर समग्र रूप मे एक स्थायी प्रभाव पड़ेगा। भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ एक रूपा होकर एक रूप मे ही पाठकों को सन्मार्ग की ओर अग्रसर कर सकेंगी। अतः स्पष्ट है कि कथानक सुसंगठित होकर समान प्रवाह मे अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर हो, इसकी व्यवस्था कवि को महाकाव्य मे करनी चाहिए।

(II) धीरोदात्त नायक

धीरोदात्त नायक में जहाँ प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित गुणों का समावेश हो जाता है, वहाँ आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इसका यह भी तात्पर्य है कि नायक सत्प्रवृत्तियों का प्रतीक हो। 'सत् एवं असत्' शब्द परस्पर सापेक्ष हैं। अत स्पष्ट है कि सत्प्रवृत्ति की सम्पुष्टि के लिए महाकाव्य में असत्प्रवृत्ति के पात्रों की सृष्टि करनी होगी और अन्ततः असत् पर सत् की विजय प्रदर्शित करनी होगी। इस प्रकार 'नायक' का महाकाव्य में महत्त्व बढ जाता है, क्योंकि उसके व्यक्तित्व के अनुरूप उसके पक्ष या विपक्ष के अनेक पात्रों की सृष्टि करना लेखक के लिए अनिवार्य हो जाएगा।' फलतः महाकाव्य में पात्रों के चारित्रिक विकास पर भी उतना ही बल दिया जाना चाहिए, जितना कथावस्तु के विकास और उसके सगठन पर दिया जाता है। 'चरित्र' ही महाकाव्य का वह अग है, जो अपने वचनों एवं कृत्यों से पाठकों पर स्थायी प्रभाव डालता है। दूसरे, महाकाव्य की रचना किसी न किसी महत् उद्देश्य एवं विचारधारा को लेकर की जाती है और उसकी अभिव्यक्ति लेखक नायक के

माध्यम से ही करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि नायक शील, शक्ति और सौन्दर्य का भण्डार हो और जन-जीवन के लिए आदर्श बनने की क्षमता रखता हो। 'मानस' का 'राम' इसी प्रकार का नायक है। कुछ आधुनिक आचार्यों का अभिमत है कि महाकाव्य का नायक कोई भी व्यक्ति हो सकता है। यह मत उचित नहीं है। जैसा कि मैंने इतिवृत्त के प्रसग मे कहा है कि महाकाव्य का नायक वही व्यक्ति होना चाहिए, जिसके प्रति उसके उच्च गुणो से घनीभूत सस्कारो के कारण मानव-मन मे श्रद्धा एव आस्था हो। नायक यदि हमारी आस्था का विषय नहीं होगा तो महाकाव्य अपने उद्देश्य में असफल हो जाएगा और उपन्यास तथा महाकाव्य मे केवल पद्यत्व और गद्यत्व का ही अन्तर रह जाएगा, जो कोई मौलिक अन्तर नहीं है जबकि प्राय सभी मनीषी यह स्वीकार करते है कि तात्त्विक दृष्टि से उपन्यास और महाकाव्य काव्य की दो पृथक् विधाएँ हैं और उनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है।

महाकाव्य का नायक मानव तो हो किन्तु उसमें अलौकिकता का समावेश भी किया जाना चाहिए। उसमे जहाँ तक सम्भव हो मानवीय दुर्बलताओं का सन्निवेश नही किया जाना चाहिए। यदि नायक मे मानवीय दुर्बलताओ का सन्निवेश किया जाएगा तो वह कालजयी महाकाव्य नही बन पाएगा। जहाँ तक अलौकिकता के समावेश का सम्बन्ध है, वह समावेश उसी सीमा तक ही होना चाहिए जिस सीमा तक वह असम्भव न दिखाई दे।

(III) भावानुकूल भाषा एव छन्द विधान

महाकाव्यकार का भाषा पर अप्रतिम अधिकार होना चाहिए तथा छन्द के स्वरूप और उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति का भी उसे पूर्ण ज्ञान रहना चाहिए। किस भाव की अभिव्यक्ति मे किस प्रकार की शब्द योजना हो, जिससे सम्बद्ध भाव साकार रूप धारण कर सके और साथ ही उसे कौन से छन्द मे रखा जाए, जिससे वह अधिकाधिक प्रभावी हो सके। यह जानना आवश्यक है। आधुनिक आचार्यों ने 'पृथ्वीराज रासो' की इस आधार पर भूरि-भूरि प्रशसा की है कि लेखक इस तथ्य के प्रति पूर्णतः सजग था कि किस प्रसग मे कौनसा छन्द अधिक प्रभावी रहेगा और वहाँ पर उसने उसी छन्द का प्रयोग किया है। कामायनी महाकाव्य की भी यह विशेषता है। हाँ! इस प्रसंग मे वह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भावानुकूल छन्द-परिवर्तन महाकाव्य का अनिवार्य तत्त्व नही है। हाँ! उसका छन्दोबद्ध होना अनिवार्य है। अनेक मेधावी कवि किसी एक या दो छन्दो के माध्यम से भी विभिन्न भावों की अद्भुत सृष्टि करने मे सक्षम होते हैं।

जहाँ तक 'भाषा' का सम्बन्ध है, महाकाव्य की भाषा प्राञ्जल, परिष्कृत और परिमार्जित तो हो ही, वह उदात्त भी होनी चाहिए। उदात्त भाषा ही उदात्त इतिवृत्त और उदात्त चरित्रों का सम्यक् निर्वहन कर सकेगी—ऐसी मेरी मान्यता है।

उदात्त भाषा का तात्पर्य कठिन सामासिक या अप्रचलित शब्दावली के प्रयोग से नहीं है वल्कि भाव विशेष को या परिस्थिति-विशेष को व्यक्त करने के लिए उसके अनुरूप प्राञ्जल शब्दावली का प्रयोग ही उदात्त भाषा कहलाएगी। अर्थगाम्भीर्य और भाव चित्र प्रस्तुत कर सकने की क्षमता वाली तथा अनायास ही आए अलकारों से अलंकृत, गुण, रीति वृत्ति के सहयोग से छविमान भाषा का नाम ही उदात्त भाषा है। कभी-कभी सरल एवं सामान्य भाषा में भी विचक्षण मेधा के धनी कवि उच्चतम भावों की बड़ी सफल अभिव्यक्ति कर देते हैं। ऐसे प्रसंग मे वह भाषा भी उदात्त भाषा की श्रेणी मे ही परिगणित होगी यथा—

स्याम गौर किमि कहौ बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

(रामचरित मानस बा. काण्ड 228/1)

इसी प्रकार की शब्दावली है।

(IV) सार्वभौम भाव-व्यञ्जना

सार्वभौम भाव-व्यञ्जना से मेरा तात्पर्य यह है कि महाकाव्य में उन समस्त भावो, उद्वेगों, मनोवेगों, अनुभूतियो की व्यञ्जना की जानी चाहिए, जो सार्वभौम मानवता के साथ सहज रूप में तरगायमान रहती हैं। पात्रो के ईर्ष्या द्वेष, राग, ममता आदि की अभिव्यञ्जना संकीर्ण न होकर विस्तृत क्षेत्र और उदात्त उद्देश्य के आधार पर होनी चाहिए। पात्रों के राग-द्वेष, विशेषत. नायक के राग-द्वेष उसके व्यक्तिगत स्वार्थ या दलगत स्वार्थ पर आधृत न होकर एक महत् मानव संस्कृति के उत्थान या पतन के परिप्रेक्ष्य में होनी चाहिए। उसका क्षेत्र इतना विस्तृत होना चाहिए जिसमे समस्त मानवता को समाविष्ट किया जा सके। राम रावण से युद्ध इसलिए नही करता कि उसने सीता का, राम की पत्नी का अपहरण किया है वल्कि इसलिए करता है कि रावण ने अकेले मे एक नारी का असहाय अवस्था में अपहरण किया है जो मानवीय मूल्यों के विपरीत किया गया कार्य है। इसी प्रकार रावण-वध व्यक्तिगत स्वार्थ का परिणाम न होकर मानवीय मूल्यों की पुन.स्थापना का परिणाम है, जिन्हे राक्षस लोग विनष्ट कर देना चाहते थे। या यों कहिए कि स्वच्छन्द, निरकुश एवं असत् प्रवृत्तियो के निरोध का परिणाम है। इसी आधार पर रामचरित-मानस की भाव-व्यञ्जना राम और सीता अथवा रावण और मन्दोदरी के भावों की व्यञ्जना नही अपितु सार्वभौम पुरुष तथा नारी और उनकी सत् एव असत् प्रवृत्तियों की व्यञ्जना है और यही महाकाव्य की सार्वभौम भाव-व्यञ्जना कहलाती है। राम के अवतार की मानस मे जो व्याख्या प्रस्तुत की गई है, वह उसकी सार्वभौमिकता की ही अभिव्यञ्जना है। गीता और मानस मे इस तथ्य का पूर्णतया उद्घाटन किया गया है। गीता का कृष्ण धर्म की रक्षा के लिए अवतरित

होता है, जबकि मानस का राम 'सज्जनों' की रक्षा के लिए अवतार धारण करता है; यथा—

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
(श्रीमद्‌भगवद् गीता)

जब-जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी ।।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।
(रामचरित-मानस)

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि उदात्त नायक की दृष्टि संकुचित नहीं होती। उसका उद्देश्य महान् होता है और उसी महान् उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य में महान् कवि देश-काल के बन्धनों से मुक्त सार्वभौम भावों की इस प्रकार अभिव्यञ्जना करता है कि सम्बद्ध कृति किसी एक देश, जाति या एक युग की धरोहर न रह कर सार्वभौम, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन अमर कालजयी रचना का स्वरूप धारण कर लेती है। उसमें उन मानव-मूल्यों के भाव-मुक्ता इस प्रकार पिरोये जाते हैं कि उनकी प्रासंगिकता सार्वभौमिक और सार्वकालिक हो जाती है।

(V) समुचित दृश्य-विधान या वस्तु-व्यापार वर्णन

कथा-निबद्ध काव्य होने के कारण महाकाव्य की शैली वर्णनात्मक होती है। कथा-प्रवाह में अनेक स्थितियाँ एवं स्थल ऐसे आते हैं जिनका वर्णन आवश्यक हो जाता है। कवि को ऐसे अवसरों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए बल्कि उनका अत्यन्त मनोयोग से मर्मस्पर्शी चित्रण करना चाहिए। ऐसा करने से जहाँ एक ओर कथा-वस्तु में रोचकता आ जाती है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे चित्रण पात्रों के चरित्र को प्रकाशित करने में सहयोग प्रदान करते हैं। इससे कथावस्तु और पात्रों के चरित्र का विकास होता है। इन दोनों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कवि ऐसे स्थलों एवं स्थितियों के चित्रण के माध्यम से विभिन्न प्रकार के भावों को तो साकार रूप प्रदान करता ही है, साथ ही यह भी अभिव्यक्त करता है कि मानव-मन किन परिस्थितियों में किस प्रकार क्रिया करने लगता है और इस प्रकार कवि मानव मनोविज्ञान की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सफल होता है। राम-कौशल्या संवाद में तुलसीदास जी वात्सल्य एवं दाम्पत्य के अन्तर्द्वन्द्व को बड़े कौशल के साथ चित्रित करने में सफल हुये हैं तो मिथिला और लंका के स्वरूप को बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट करने में भी तुलसी बाबा को पूर्ण सफलता मिली है। इस आधार पर पूर्व पृष्ठों में भारतीय आचार्यों द्वारा दी गयी सूची के अनुरूप महाकाव्य में संयोग, वियोग,

सौन्दर्य चित्रण, ऋतु चित्रण, प्रकृति चित्रण आदि वस्तु-व्यापारो के दृश्यो का सुन्दर विधान किया जाना चाहिए। ये दृश्य न तो अत्यल्प होने चाहिए और न ही अति-विस्तृत। ऐसे दृश्य-विधानों से महाकाव्य का क्षेत्र और विस्तृत हो जाता है और वह मानवता का प्रतिनिधि काव्य ही न रह कर प्राणिमात्र का प्रतिनिधित्व करने लगता है। अथवा यों कहिए कि समस्त विश्व का समग्र सौन्दर्य एक बारगी ही एक ही स्थान महाकाव्य मे साकार हो उठता है। दृश्य-विधान महाकाव्य की मौक्तिक-माला मे मणि, माणिक्य और हीरकों की तरह अपनी आभा से उमे अधिक आकर्षक, हृदय-ग्राही, मनोरम एवं प्रभावोत्पादक बना देते है। फलत कवि को चाहिए कि महाकाव्य में विभिन्न दृश्यों का विधान करते समय अति सूक्ष्म एवं सारग्राहिणी प्रतिभा का परिचय दे। इन वस्तु-व्यापार वर्णनो के माध्यम से कवि अपने समय की छाप भी महाकाव्य में लगा देने का कार्य प्रत्यक्ष रूप मे या व्यंग्यात्मक रूप मे सम्पन्न कर सकता है। अपनी कल्पना शक्ति और भाषा का जौहर भी इसी माध्यम से प्रदर्शित कर सकता है।

(2) खण्ड-काव्य

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने खण्ड-काव्य के विवेचन पर उतना ध्यान नही दिया, जितना महाकाव्य के विवेचन पर दिया है। विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्य दर्पण' में खण्ड-काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है कि काव्य के एक देश अर्थात् एक अंश का अनुसरण करने वाले प्रबन्ध-काव्य को खण्ड-काव्य कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि खण्ड-काव्य में महाकाव्य के अन्य लक्षणों को समाहित करते हुए उसके अर्थात् इतिवृत्त के किसी एक अंश को लेकर लिखा जाता है, यथा—'खण्ड काव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।' संस्कृत आचार्यों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे पिष्टपेषण मे विश्वास नही करते और अपनी बात को इस प्रकार प्रस्तुत करते है कि जो वे चाहते है, उसका समावेश भी उसमें सरलता से हो सके। खण्ड-काव्य प्रबन्ध-काव्य का एक भेद है। अत. कहने की आवश्यकता नही कि उसमे प्रबन्धात्मकता के तत्त्व होने चाहिए। यह तो स्वत: सिद्ध है कि उसमें प्रबन्धात्मकता तो होगी ही। तत्पश्चात् आचार्य महाकाव्य का विवेचन करता है और उसके पश्चात् इसी प्रसंग मे खण्ड-काव्य को महाकाव्य का एकदेशानुसारी कह कर छुट्टी पा लेता है। इसका अर्थ यह हुआ कि खण्ड-काव्य मे महाकाव्य के एकांशात्मक तत्त्वों का समावेश हो। इसी सूत्र के आधार पर हम खण्ड-काव्य का विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

खण्डकाव्य प्रबन्धकाव्य का वह भेद होता है, जिसमे किसी ख्यात महा-पुरुष के जीवन की किसी घटना को चित्रित किया जाता है। संस्कृत आचार्यों की मान्यतानुसार खण्डकाव्य का कथानक भी इतिहाससिद्ध या पौराणिक होना चाहिए किन्तु परवर्ती खण्डकाव्यों का अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि

खण्ड-काव्य के विषय मे सर्जनशील कलाकारो ने इसे अधिक महत्त्व नहीं दिया औ
आचार्य भी इसके प्रति इतने कट्टर नही थे, अन्यथा विश्वनाथ खण्ड-काव्य के उदा-
हरण मे 'मेघदूत' को उद्धृत नही करते । फलतः हम कह सकते है कि खण्डकाव्य
का इतिवृत्त प्रख्यात या उत्पाद्य (काल्पनिक) दोनो प्रकार का हो सकता है। इसी
प्रसग मे यह भी कहा जा सकता है कि खण्डकाव्य क्योकि किसी व्यक्ति के जीवन
की किसी एक घटना को लेकर चलता है, इसलिए उसमें सर्ग-विभाजन की भी
आवश्यकता नही है । महाकाव्य मे तो सर्ग-विभाजन की आवश्यकता इसलिए पड़ती
है कि उसमे किसी महापुरुष के समस्त जीवन को चित्रित किया जाता है । फलत.
आधिकारिक कथावस्तु के साथ अनेक प्रासगिक घटनाओं का भी समावेश होता है और
कथा का विस्तार भी रहता है । स्थल भी परिवर्तित होते रहते हैं और उत्थान-
पतन का क्रम भी रहता है जबकि खण्डकाव्य मे केवल एक मूल कथानक ही रहता
है । फलत उसमे सर्ग-विभाजन की आवश्यकता नही पड़ती । इसी प्रकार जब खण्ड-
काव्य मे एक ही मूल कथानक को लेकर उसका ताना-बाना बुना जाता है, तब उसमे
न तो अर्थप्रकृतियो की आवश्यकता रहती है और न ही नाटकीय सन्धियो की।
सक्षेप मे यो कह सकते हैं कि खण्डकाव्य का कथानक सरल होता है, जटिल नहीं
फिर भी कार्यावस्थाओ का समावेश रहना चाहिए अन्यथा कथानक का प्रवा
अव्यवस्थित हो जाएगा और रोचकता का अभाव भी खटकता रहेगा ।

महाकाव्य मे प्रस्तुत जीवन के विभिन्न स्तरो का सन्तुलित चित्र प्रस्तुत किया
जाता है क्योकि किसी एक स्तर को अधिक महत्त्व देने से कथा-प्रवाह मे अवरोध
आने का भय रहता है । दूसरे, महाकाव्य के समग्र प्रभाव मे भी बाधा आ सकती
है । इसके विपरीत खण्डकाव्यकार व्यक्ति-विशेष के जीवन की किसी एक घटना से
इतना प्रभावित हो उठता है कि वह उस घटना को अपनी लेखनी का विषय बनाकर
उसे पूर्णता प्रदान कर देता है । इस रूप मे वह महाकाव्य का समकक्षी हो जाता है
किन्तु यहाँ पर द्रष्टव्य है कि महाकाव्य की पूर्णता और खण्डकाव्य की पूर्णता मे
अन्तर होता है । वह यह है कि महाकाव्य की पूर्णता मानव जीवन की सम्पूर्णता का
बिम्ब होता है तो खण्डकाव्य की पूर्णता जीवन के किसी एक अश की पूर्णता
होती है । उसमे उत्थान और पतन की विभिन्न स्थितियो के दिग्दर्शन का अवकाश
नही होता है । वह किसी एक स्थिति को ही पूर्णता प्रदान कर देता है ।

खण्डकाव्य की तुलना उपन्यास के परिपार्श्व में रचित गद्य काव्य की विधा
कहानी से की जा सकती है । कहानी जिस प्रकार उपन्यास के लघु रूप मे होकर भी
तकनीकी दृष्टि से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, उसी प्रकार खण्डकाव्य महा-
काव्य का लघु रूप होकर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और इन दोनो मे
तात्त्विक अन्तर यही है कि उनका वह लघु रूप भी अपने आप मे पूर्ण होता है । वह
किसी अन्य विधा का अग रूप न होकर स्वय अंगी होता है । इनमे बाहर किसी

अपर प्रसंग की आवश्यकता का अनुभव न होने के कारण इनका स्वतन्त्र अस्तित्व असंदिग्ध है।

(3) एकार्थकाव्य

आचार्य विश्वनाथ ने प्रबन्धकाव्य के एक भेद एकार्थकाव्य का उल्लेख किया है। आपके अनुसार भाषा एवं विभाषाओं में एकार्थकाव्य भी लिखे गये हैं। ऐसे काव्यों का विभाजन सर्गों में किया जाता है, एक ही अर्थ अर्थात् उद्देश्य को लेकर पद्य में लिखा जाता है। ऐसे काव्यों में सन्धियों का विधान वर्जित है; यथा—

भाषा विभाषा नियमात् काव्यं सर्ग समुत्थितम्।
एकार्थ प्रवणैः पद्यैः सन्धि समग्र भव वर्जितम्।।

उपर्युक्त लक्षण के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(i) कथावस्तु का विभाजन सर्गों मे किया जाना चाहिए। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार के काव्य मे किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को लिया जा सकता है, जिससे उसके विभिन्न पहलुओं को सर्गों के आधार पर प्रदर्शित किया जा सके।

(ii) एकार्थ को व्यक्त करने वाली पद्यबद्ध रचना एकार्थकाव्य का दूसरा लक्षण है। इससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि कवि का ध्यान उस कथानक के माध्यम से किसी एक अर्थ अथवा उद्देश्यों को साकार रूप देने पर रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लगभग सम्पूर्ण जीवन को लेकर चलने पर उसके किसी एक उद्देश्य या कार्य पर ही लेखक की दृष्टि अधिक रहती है। वह उस स्थल का अत्यन्त मनोयोग से चित्रण प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि वह सम्पूर्णार्थक न रहकर एकार्थक रह जाता है।

(iii) सन्धियों का विधान वर्जित है। इस तथ्य का यह अर्थ किया जा सकता है कि यद्यपि कवि ऐसे काव्य का आधार किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को बनाता है किन्तु उस समुचित प्रवाह एवं संगठन के प्रति संवेदनशील नहीं रहता क्योंकि उसे तो उसके किसी एक पक्ष या कार्य को उद्घाटित करना है और यही उसका चरम लक्ष्य होता है। फलतः उसमें संधियों आदि की व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त आकलन के आधार पर हम एकार्थकाव्य का लक्षण इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं कि एकार्थकाव्य प्रबन्ध का वह भेद है, जिसमें किसी महापुरुष के लगभग सम्पूर्ण जीवन का कथन तो हो किन्तु उसमे उसके किसी एक मार्मिक अंश या पक्ष का भावपूर्ण मार्मिक अभिव्यञ्जन हो। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, रामदहिन मिश्र, डॉ० दशरथ ओझा आदि आचार्यों ने हिन्दी साहित्य मे काव्य के इस रूप को मान्यता प्रदान की है। मेरी दृष्टि में सूरदास का सूरसागर और

श्री रामधारीसिंह दिनकर की 'उर्वशी' इस कोटि की रचनाएँ हो सकती हैं। इस प्रकार की रचनाएँ महाकाव्य एवं खण्ड-काव्य के बीच की रचनाएँ होती हैं।

(4) आख्यायिका प्रधान काव्य

आख्यायिका प्रधान काव्य प्रबन्धकाव्य की वह विधा होती है जिसके मूल मे कोई न कोई कथा-सूत्र विद्यमान रहता है किन्तु काव्य की अभिव्यक्ति कथा पर निर्भर न रहकर तदाश्रित किसी प्रकार के भाव, विचार, जीवन-दर्शन अथवा अन्य किसी स्थिति के चित्रण पर निर्भर करती है। ऐसे काव्यों में कथा-सूत्र रहने के कारण वे मुक्तक काव्य के अन्तर्गत परिगणित नहीं किये जा सकते क्योंकि इनमें पद्यों का पूर्वापर सम्बन्ध बना रहता है। इसी प्रकार ऐसे काव्य महाकाव्य, खण्ड-काव्य या एकार्थ काव्यों की श्रेणी में भी नही रखे जा सकते क्योंकि ऐसे काव्यो मे न तो वस्तु-संगठन ही होता है और न ही किसी व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण जीवन या उसके जीवन की किसी एक घटना को प्रकाश मे लाया जाता है। ऐसे काव्यो मे तो किसी आख्यान या घटना को आधार बना कर कवि अपने भावो या विचारो को साकार रूप प्रदान करता है अथवा यो कहिए कि उस घटना की तह मे छुपे हुए गुह्य रूप को प्रत्यक्ष करता है। मेरी दृष्टि में श्री निराला की 'सरोज-स्मृति' एव 'राम की शक्ति पूजा', दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। हिन्दी-साहित्य में ऐसी रचनाओ का पर्याप्त बाहुल्य है।

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य पद्य काव्य की वह विधा कहलाती है, जिसमे न तो कथा-सूत्र रहता है और न ही पूर्वापर सम्बन्ध बल्कि एक या एकाधिक पदों मे किसी एक रस या भाव की पूर्ण व्यञ्जना उसमें कर दी जाती है। अग्निपुराणकार ने मुक्तक काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—

"मुक्तकः श्लोक एकैश्चमत्कार क्षमः सताम्।"

अर्थात् जहाँ पर एक ही श्लोक चमत्कार उत्पन्न करने में सक्षम हो मुक्तक काव्य कहलाता है। इसके पश्चात् अभिनव गुप्त पादाचार्य ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका मे 'मुक्तक' को परिभाषित करने का प्रयास किया है—

"मुक्तमन्येनार्ऽलिंगितम्। तस्य संज्ञायाम् कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रबन्ध मध्यवर्ति मुक्तकमित्युच्यते।..... पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।"

अर्थात्—मुक्त शब्द के साथ 'कन्' प्रत्यय लगा कर 'मुक्तक' शब्द व्युत्पन्न

किया जाता है। 'मुक्त' का अर्थ होता है असम्पृक्त अथवा अनालिंगित अर्थात् जो अन्य से जुड़ा हुआ न हो। प्रबन्ध मे आगत वह पद्यभाग जो स्वतन्त्रतापूर्वक निराकांक्ष भाव से अर्थ द्योतन में समर्थ हो उसे मुक्तक काव्य कहते हैं। कुछ आगे चल कर अभिनवगुप्त पुनः लिखते हैं कि 'पूर्वापर भाव से निरपेक्ष रहकर जो रसास्वादन कराता है उसे मुक्तक कहते हैं। उक्त दोनों ही परिभाषाओं में मुक्तक का लक्षण तो स्पष्ट हो जाता है किन्तु उसे काव्य की एक स्वतन्त्र विधा का स्थान प्राप्त नहीं होता। अभिनव गुप्त मुक्तक की व्याख्या प्रबन्ध के अन्तर्गत ही करते प्रतीत होते हैं। हेमचन्द्र ने काव्य के एक भेद के रूप में मुक्तक का संकेत दिया है, जिसे वह अनिबद्ध काव्य कहता है; यथा—अनिबद्धं मुक्तकादि। विश्वनाथ कविराज ने भी पूर्वापरसम्बन्ध-निरपेक्ष पद को मुक्तक की संज्ञा से अभिहित किया है; यथा—

छन्दोबद्ध पदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।

हिन्दी आचार्यों में बाबू गुलाबराय ने भी मुक्तक को एक स्वतन्त्र विधा के रूप मे प्रस्तुत करते हुए उसे पूर्वापर सम्बन्ध से निरपेक्ष रसपूर्ण रचना कहा है, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि कुछ कवि किसी सामान्य उक्ति को भी कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर देते है। उसमे रस-निष्पत्ति तो नही होती किन्तु उसमे साहित्यिक चमत्कार विद्यमान रहता है। ऐसी उक्तियों को उन्होंने 'सूक्ति' के नाम से अभिहित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रसधारा नही रहती जिसमें कथा-प्रसंग में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमें रस के जैसे छींटे पड़ते हैं जिनमे हृदय की कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तककाव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीलिए सभा समाजों के लिए वह अधिक उपयुक्त होता है। उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि एक रमणीय खण्ड दृश्य इसी प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हे अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में कल्पित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक रचना मे अधिक सफल होगा।

आचार्य शुक्ल के इस वक्तव्य से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(i) मुक्तककाव्य प्रबन्धकाव्य की तुलना से निम्नकोटि की रचना है। (ii) मुक्तक में रसधारा न बह कर रस के छींटे ही पड़ते हैं। (iii) मुक्तक पूर्वापर सम्बन्ध-निरपेक्ष होता है। (iv) मुक्तक मे कल्पना एवं भाषा का चमत्कार होता है। आचार्य शुक्ल के विरोध में बोलना सहज कार्य नही है फिर भी इतना कहना

अवान्छनीय नही होगा कि मुक्तक काव्य मे भी रस की वही धारा अविछिन्न रूप मे प्रवहमान होती है, जो प्रबन्धकाव्य मे बहती है। हाँ! यह तथ्य स्वीकार्य है कि प्रबन्धकाव्य मे पाठक वस्तु प्रवाह मे निमग्न हो जाता है जब कि मुक्तक काव्य में ऐसे प्रवाह का अभाव रहता है। शेष पद्यो का जहाँ तक सम्बन्ध है, प्रबन्धकाव्य मे भी कुछ पद्य ऐसे होते हैं जो किसी भी प्रबन्धकाव्य के प्राण होते हैं और वे अप्रत्यक्ष रूप मे मुक्तक ही होते हैं किन्तु कथा-प्रसग के मध्य मे आने के कारण वे प्रबन्ध के अग बन जाते हैं। डॉ० रामसागर त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ 'मुक्तक काव्य परम्परा एव बिहारी' मे मुक्तककाव्य की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—ऐसा पद्य जो परत. निरपेक्ष रहते हुए पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति मे समर्थ हो, काव्य के लिए अपेक्षित चमत्कृति इत्यादि विशेषताओ से युक्त हो, अपनी काव्यगत विशेषताओ के कारण जो आनन्द देने मे समर्थ हो, जिसका गुम्फन अत्यन्त रमणीय हो और जिसका परिशीलन ब्रह्मानन्द सहोदर रसचर्वणा के प्रभाव से हृदय की मुक्तावस्था को प्रदान करने वाला हो·······मुक्तक काव्य कहलाता है।

उपर्युक्त परिभाषा, परिभाषा के सक्षिप्तता-गुण के अभाव से तो ग्रस्त है ही, साथ ही अतिव्याप्ति दोष से भी ग्रस्त है। ऐसा लगता है कि लेखक को काव्य के जिन-जिन गुणो का स्मरण हो आया उन्हे ही यहाँ पर लिख डाला। इस परिभाषा से मुक्तक का स्वरूप स्पष्ट नही हो पाता। मेरा अभिप्राय यह है कि काव्य की किसी भी विधा को परिभाषित करना हो, उस परिभाषा मे विधा-विशेष का वैशिष्ट्य अवश्य परिलक्षित होना चाहिए। मेरी मति के अनुसार तथा अन्य आचार्यो के विचारो के परिपार्श्व में मुक्तक को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—मुक्तककाव्य पद्यकाव्य की उस शाखा को कहते हैं, जिसमे पूर्वापर सम्बन्ध निरपेक्ष कार्य की रसात्मक भाव-व्यञ्जना अथवा कलात्मक अभिव्यक्ति निहित हो। मैंने इस परिभाषा मे दो शब्दो का जान-बूझकर प्रयोग किया है—(1) रसात्मक भाव-व्यञ्जना और (2) कलात्मक अभिव्यक्ति। इन दोनो के आधार पर मुक्तक को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—(1) रसात्मक मुक्तककाव्य और (2) सूक्ति-परक मुक्तककाव्य।

(1) रसात्मक मुक्तककाव्य

रसात्मक मुक्तक-काव्य मुक्तककाव्य का वह भेद होता है, जिसमे किसी एक भाव, वस्तु अथवा स्थिति को आधार बना कर उसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना की जाती है। इन दिनों पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अनुकरण पर हमारे आलोचक विभिन्न प्रकार से मुक्तककाव्य की व्याख्या करने लगे हैं किन्तु दुर्भाग्य यह है कि अनुकरण के इस भँवर मे हम इतने उलझ जाते हैं कि सत्य का सूत्र हमारे हाथ से छूट जाता है। इस प्रसग मे विस्तार के लिए तो अवकाश नही किन्तु सक्षेप मे मैं अपने कथन को पुष्ट करने का प्रयास करूँगा। सबसे पहला प्रश्न है संगीतात्मकता एवं गेयता का।

यह रसात्मक मुक्तक, जिसे आजकल पाश्चात्य प्रभाव में गीति काव्य के नाम से अभिहित किया जाता है, का कोई वैशिष्ट्य नहीं है। छन्दोबद्ध जो भी रचना होगी वह गेय होगी और संगीत प्रधान भी होगी। फलतः यह लक्षण प्रबन्धकाव्य पर भी लागू हो सकता है। मानस को कितने ही रूपों मे गाया जाता है। आल्ह खण्ड भी गेय है तो कामायनी का 'ईड़ा' सर्ग गीतात्मक है। 'गीत' भी एक प्रकार से छन्द ही है। अतः मुक्तक काव्य में इसे (गेयता को) रखना उचित नहीं है और यही कारण है कि प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इस तथ्य का संकेत नहीं किया है।

दूसरा तत्त्व आत्माभिव्यञ्जन का है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो काव्य की प्रत्येक विधा मे कवि किसी न किसी रूप में आत्माभि-व्यञ्जन ही करता है, अन्तर केवल शैली का होता है और यदि 'स्व' के कथन के आधार पर इसे आत्माभिव्यञ्जन कहा जाता है तो फिर सूर-सागर जैसे ग्रन्थ और रीतिकाल के अन्य अनेक कवियों को मुक्तककाव्य मे बहिष्कृत होना पडेगा। दूसरी बात यह है कि कवि की अभिव्यक्ति मूलतः समाज की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए उसे स्रष्टा कहा जाता है। इसीलिए वह समाज का अग्रणी होता है। आचार्य रामचन्द्र की उक्ति इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—'दूसरी ओर जिसे वह सहानुभूति कह कर प्रकट करता है और वह यदि संसार में किसी की अनुभूति से मेल नहीं खायेगी तो वह एक कौतुक मात्र होगी, काव्य नहीं। ऐसा कवि और उसका काव्य, दोनों तमाशा देखने की चीज ठहरेंगे।

जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है काव्य की कोई भी विधा अनुभूति के अभाव में प्रकाश में नहीं आ सकती, फिर अनुभूत्यात्मकता मुक्तककाव्य या गीतिकाव्य की ही विशेषता क्यों? अतः गीतिकाव्य के नाम से किसी काव्य रूप की पाश्चात्य अन्धानुकरण पर स्थापना करना न तो आवश्यक ही है और न उचित ही है। इसीलिए हम मुक्तक के इस रूप को रसात्मक मुक्तककाव्य कहना ही उचित समझते हैं और इसका वैशिष्ट्य यह है कि एक या दो पदों में ही रस की पूर्ण निष्पत्ति हो जाती है। इसमे कथा-सूत्र के पूर्वापर सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। इसकी दो शैलियाँ हो सकती हैं—एक तो वे रसात्मक मुक्तक जो लोक-गीतों या विभिन्न राग-रागनियों के नियमों से आबद्ध गीतों में लिखे जाते है और दूसरे वे रसात्मक मुक्तक जो गीतेतर छन्दो में लिखे जाते हैं। इसमे प्रत्येक गीत या पद अपने मे पूर्ण होता है। मनोवेग सभी मनुष्यों मे समान होते है। उन पर या उनके किसी रूप पर व्यक्ति का एकाधिकार नहीं होता है। रसात्मक मुक्तक और प्रबन्ध मे दूसरा अन्तर यह है कि मुक्तक में कवि किसी एक या दो भावो की मुख्य रूप से अनुभूति करता है और उनकी अभिव्यक्ति कर देता है जबकि प्रबन्धकार और मुख्यतः महाकाव्यकार को जीवन के विभिन्न भावों, परिस्थितियों एवं विपरीत आचरणों की अनुभूति करनी होती है, तदनुरूप उन्हे व्यक्त करना होता है और इसी कारण मुक्तककार के प्रबन्ध-काव्य-प्रणेता, उस पर भी महाकाव्य का रचयिता गुरुतर होता है। वह सापेक्ष

रूप से अधिक भावुक संवेदनशील और प्रतिभाशाली माना जाता है। मेरी दृष्टि में रसात्मक मुक्तककाव्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—गीतों या गीतेतर छन्दों के माध्यम से किसी भाव या स्थिति की रसात्मक एवं स्वत: पूर्ण अभिव्यक्ति ही रसात्मक मुक्तककाव्य कहलाती है। यहाँ पर रसात्मक शब्द का प्रयोग मुक्तक की मूल विशेषता को व्यक्त करने के लिए किया गया है, बल्कि यह विशेषण 'सूक्ति' से उसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए किया गया है, अन्यथा रूपात्मक दृष्टि से मुक्तक के अन्य भेदों की आवश्यकता नहीं है। विषय-सामग्री अथवा अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रेममूलक, देशभक्तिमूलक, भक्तिमूलक आदि अनेक भेद किये जा सकते हैं।

(2) सूक्तिपरक मुक्तककाव्य

कवि अनेक बार किसी सामान्य कथन, विचार या दर्शन की अत्यधिक कलात्मक अभिव्यक्ति कर देता है जिसका पाठकों पर एक स्थायी प्रभाव पड़ता है। क्योंकि उसमें कलात्मकता है, भाषा सौन्दर्य है तथा कथन-सौकर्य है, इसलिए उसे या ऐसी उक्ति को साहित्य से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता और क्योंकि उसमें रस-निष्पत्ति या भाव-चित्रण का अभाव रहता है, इसलिए वह काव्य का अभिन्न अंग भी नहीं बन सकता। फलत: इसे मुक्तककाव्य के एक अंग के रूप में स्वीकृत कर लिया गया है। रहीम, बिहारी, रसलीन आदि के अनेक पदों को रसात्मक तो नहीं कह सकते किन्तु वे कथन के चमत्कार से अप्रभावित भी नहीं रह पाते। फलत: आचार्यों ने उन्हें सुन्दर कथन कह कर 'सूक्ति' काव्य रूप में स्वीकार कर लिया है।

गद्य-काव्य विवेचन

गद्य-काव्य

प्राचीन आचार्यों का अभिमत रहा है कि 'गद्यं कवीनाम् निकषं वदन्ति' अर्थात् किसी भी कवि की प्रतिभा का मापदण्ड उसके द्वारा लिखित गद्य काव्य होता है। इतना होने पर भी प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने गद्य काव्य का सूक्ष्म, गम्भीर एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने काव्य-रूपों के वर्गीकरण में गद्य काव्य एवं उसके विभिन्न भेदों के लक्षणों का केवल प्रासंगिक रूप में उल्लेख कर दिया है। इसका कारण यह है कि पद्य की तुलना में गद्य अधिक व्यक्त होता है। फलत: गद्य में आए गुण-दोष तुरन्त पाठक-श्रोता की दृष्टि में आ जाते हैं जबकि पद्य में छन्द की लय-ताल में दोषों का अनेक बार अवलोकन नहीं हो पाता। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने गद्य को कवि की कसौटी कह दिया और अप्रत्यक्ष रूप में यह भी घोषित कर दिया कि गद्य में भी पद्य के प्राय: सभी लक्षणों का समावेश स्वत: ही मान लिया जाना चाहिए। गद्य और पद्य का अन्तर प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथ ने केवल इतना भर कहा है कि छन्दोबद्धता रहित काव्य ही गद्य काव्य है; यथा—'वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्।' अग्निपुराणकार ने इसी तथ्य का आख्यान किया है;

यथा—अपादः पदसन्तानो गद्यं तदपि कथ्यते, अर्थात् पद-विभाग से रहित पदों का प्रवाह गद्य कहलाता है। यहाँ पर 'पद-विभाग' में प्रयुक्त 'पद' शब्द छन्द के 'चरण' का वाचक और 'पदों का प्रवाह' वाक्यांश में प्रयुक्त 'पदों' शब्द 'वाक्यों' का वाचक प्रतीत होता है। इस प्रसंग को दृष्टि में रखते हुए गद्य काव्य की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—काव्य के तात्त्विक गुणों से मवलित, व्याकरण के नियमों से नियमित तथा रमणीयार्थ-व्यञ्जक वाक्यों का प्रवाह गद्य काव्य कहलाता है।

गद्य-काव्य का वर्गीकरण

प्राचीन आचार्यों ने छन्दोहीनता की दृष्टि से और शैली की दृष्टि से गद्य-काव्य का अनेक वर्गों में सामान्य विभाजन प्रस्तुत किया है जिनका उल्लेख पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य में गद्य की जिन प्रमुख विधाओं का विकास दृष्टिगत होता है, उनका मूल चाहे हम प्राचीन संस्कृत साहित्य में खोजने का प्रयास करें किन्तु जिस रूप में आज जो विधाएँ प्राप्त हैं, वे अंग्रेजी साहित्य के आधार पर विकसित हुई हैं अथवा यों कहिए कि उनका उद्भव आंग्ल साहित्य के आधार पर हुआ और मेधावी लेखकों ने उन्हें अपनी सांस्कृतिक धारा के अनुरूप नवीन रूप प्रदान कर दिया। जिस प्रकार नाटक साहित्य में संस्कृत और पश्चिमी नाट्य लक्षणों का मिश्रण स्पष्ट दृष्टिगत होता है, वैसा मिश्रण गद्य साहित्य में नहीं दिखाई देता। डॉ० भागीरथ मिश्र से इस तथ्य पर सहमत होना मुश्किल है कि बृहत्कथा से जासूसी, सकल कथा से ऐतिहासिक और परिकथा से सामाजिक उपन्यासों का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस तथ्य को समझने के लिए काव्यानुशासन में प्रदत्त इन गद्य-रूपों के लक्षण से परिचित हो लेना अप्रासंगिक न होगा। बृहत्कथा का लक्षण है 'किसी विशाल महत्त्वपूर्ण विषय को लेकर अद्भुत कार्य की सिद्धि का वर्णन करने वाली पिशाचभाषा से युक्त कथा बृहत्कथा है—जैसे नरवाहनदत्तादि। (यह लक्षण डॉक्टर साहब की कृति से ही उद्धृत है) उक्त लक्षण में मुझे जासूसी उपन्यासों का कोई भी लक्षण नहीं दिखाई देता। 'नरवाहन दत्त' बृहत्कथा में कोई जासूसी प्रसंग आ गया हो, वह पृथक् बात है। यों तो मुद्रा-राक्षस नाटक में भी गुप्तचरी का प्रसंग आता है, किन्तु उसे जासूसी उपन्यासों का आधार नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार डॉक्टर साहब ने सकल कथा का यह लक्षण दिया है—प्रारम्भ से फल प्राप्ति के अन्त तक पूरे चरित्र का यथातथ्य वर्णन जिसमें होता है, वह सकल कथा है। जैसे समरादित्य। इसमें ऐतिहासिक उपन्यास के कौन से लक्षण हैं, समझ में नहीं आता। हाँ! परिकथा के क्षीण तन्तु सामाजिक उपन्यासों में देखे जा सकते हैं किन्तु आजकल जिस प्रकार सामाजिक उपन्यास हिन्दी साहित्य में लिखे जा रहे हैं, उनका आधार परिकथा का प्रस्तुत लक्षण नहीं हो सकता; यथा—जिनमें

चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से एक को लक्ष्य करके विचित्र वृत्तान्तों को सुनाया जाता है, वह परिकथा है; यथा-शूद्रकादि।

इस प्रसंग में मेरा विनम्र निवेदन है कि साहित्यकार को विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य से प्रेरणा मिल सकती है और उसे ग्रहण कर यदि वह किसी रचना को प्रस्तुत करता है तो हमें उस साहित्य को जहाँ से लेखक ने प्रेरणा ग्रहण की है, प्रेरक बिन्दु मान लेने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। उसके बिन्दु पुराने ग्रन्थों में खोजने का प्रयास कट्टरता के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। इस प्रसंग में मेरी स्थापना यह है कि आज हिन्दी साहित्य में गद्य के जो विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं, उनके उत्प्रेरक तत्व पाश्चात्य साहित्य के हैं और उनका स्वरूप हिन्दी साहित्य की अपनी मौलिक निधि है, जो हमारे प्रबुद्ध साहित्यकारों की प्रतिभा का प्रतिफलन है। हमें उसे उसी रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए और उस पर गर्व करना चाहिए। हिन्दी के कथा-साहित्य ने पाश्चात्य कथा-साहित्य का प्रभाव बंगला साहित्य के माध्यम से ग्रहण किया, यह भी एक प्रत्यक्ष तथ्य है। अतः इस आधार पर हिन्दी गद्य साहित्य का विभाजन निम्न वर्गों में किया जा सकता है—(1) उपन्यास, (2) कहानी, (3) संस्मरण, (4) आत्म-चरित, (5) जीवनी, (6) रेखाचित्र, (7) रिपोर्ताज, (8) निबन्ध और (9) आलोचना।

उपन्यास विवेचन

उपन्यास

'उपन्यास' शब्द का प्रयोग आज जिस अर्थ में किया जाता है, वह अंग्रेजी के फिक्शन (Fiction) या नावेल (Noval) शब्द के पर्याय के रूप में किया जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता रहा है। सर्वप्रथम तो इसका प्रयोग नाटक की प्रतिमुख सन्धि के एक भेद के रूप में किया गया है, जिसका अर्थ होता है आनन्दित करना। यथा—उपन्यासः प्रसादनम्। कुछ विद्वान् इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'अर्थ की युक्तियुक्त रूप में स्थापना करना ही उपन्यास है यथा—उपपत्ति कृतो ह्यर्थः उपन्यास' नकीर्तित। 'उपपत्ति' शब्द के भी युक्तियुक्त स्थापना, चरितार्थता, संगति और युक्ति आदि अनेक अर्थ होते हैं। एक अन्य व्युत्पत्ति में 'उपन्यास' शब्द दो शब्दों के योग से बना है—उप+न्यास। 'उप' उपसर्ग है, जिसका अर्थ होता है—'पास' और 'न्यास' शब्द का अर्थ होता है 'रखना'। अत सम्पूर्ण शब्द का अर्थ पास में रखना। इनके अतिरिक्त शिक्षा, उपदेश, भूमिका आदि अर्थों में भी उपन्यास शब्द का प्रयोग किया गया है; यथा—आत्मन उपन्यासपूर्वम्, नियतिः शनकैरलीक वचनोपन्यासमाली [illegible]न आदि। सम्भवतः किसी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व अथवा कलाकार ने अत्यन्त [illegible]न-समझकर कथासाहित्य के इस रूप के लिए 'उपन्यास' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग

किया होगा क्योंकि आजकल उपन्यास का जो स्वरूप हमारे सामने विद्यमान है, वह उपर्युक्त समस्त अर्थों को एक साथ अपने में सजोए हुए है। उपन्यास मनोरञ्जन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। फलतः यह प्रसादन करता है। 'उपन्यास' मे जीवन की सहेतुक स्थापना की जाती है। अतः यह 'उपपत्ति' है। उपन्यास मे जीवन को निकट से देखने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार 'उप' शब्द का 'निकट' अर्थ भी इसमें निहित है। उपन्यास अप्रत्यक्ष रूप में शिक्षा भी देता है और यह भोगे हुए जीवन की सफल भूमिका है। इस प्रकार 'उपन्यास' शब्द का अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थ मे सर्वथा सफल प्रयोग इस विधा के लिए किया गया है।

दूसरे, मैंने यह भी कहा है कि 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी के फिक्शन (Fiction) या नावेल (Novel) शब्द का पर्यायवाची है। अतः अंग्रेजी के इन दो शब्दों की जानकारी प्राप्त कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा। अंग्रेजी कोप मे फिक्शन शब्द का अर्थ दिया है—कल्पनातिशयता, मनगढन्त, कपोल-कल्पित आदि। इसका अर्थ यह हुआ कि पाश्चात्य साहित्य में काव्य की उस विधा को फिक्शन कहा जाता था, जिसमें कल्पना का सीमातीत प्रयोग किया जाता था। दूसरा, शब्द है—'नावेल' (Novel), इसका अर्थ होता है 'नया।' विद्वानों का अभिमत है कि पाश्चात्य जगत् ने जब फिक्शन मे कल्पनातिशयता खटकने लगी तो बुद्धि ने इनके कथन का समर्थन करना बन्द कर दिया और इस विधा को कोरी गप्प माना जाने लगा, तब कलाकार सहसा सजग हुए और कल्पना के स्थान पर जीवन की वास्तविकता का अंकन करना प्रारम्भ कर दिया। कथा-साहित्य में यह एक नवीन आन्दोलन था। फलतः कथा-साहित्य को 'नावेल' कहना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय पश्चात् यह शब्द कथा-साहित्य की एक विधा के लिए पारिभाषिक शब्द बन गया। इस प्रसग मे उसने अपने मूल अर्थ (नवीन) का परित्याग कर दिया किन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वान् यह भी कहते हैं कि 'नावेल' शब्द ने अपने मूल अर्थ का परित्याग नही किया है बल्कि 'नावेल' शब्द अब भी यह इंगित करता है कि 'नावेल' परिवर्तित जीवन को उसके नवीन रूप मे प्रस्तुत करता है। फलतः वह 'नावेल' है अर्थात् नवीन है।

उपर्युक्त आकलन मे भारतीय एव पाश्चात्य भाषाओ मे प्रयुक्त उपन्यास, फिक्शन एव नावेल शब्दों मे व्युत्पत्तिपरक अर्थों पर विचार किया गया है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि 'उपन्यास' शब्द अपने मूल अर्थ मे ही उपन्यास विधा को प्रकट करने की क्षमता रखता है, जबकि पाश्चात्य शब्दावली अपने पारिभाषिक अर्थ मे ही विधा के स्वरूप को स्पष्ट कर पाती है, मूल व्युत्पत्त्यर्थ मे नही।

उपन्यास का स्वरूप

उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि हम सर्जनशील कलाकारो द्वारा इस विधा मे व्यक्त विषय सामग्री का आकलन करें और निष्कर्ष

निकाल सकें कि वे कौनसे तत्त्व हैं अथवा वह कौनसा वैशिष्ट्य है, जो उपन्यास को काव्य की एक विधा के रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि विश्व के सभी उपन्यासों में एक मूल इतिवृत्त रखा जाता है जो किसी प्रख्यात व्यक्ति अथवा काल्पनिक व्यक्ति से सम्बद्ध होता है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि इतिवृत्त तो महाकाव्य में भी होता है फिर यह उसका कोई वैशिष्ट्य नहीं है। उत्तर सरल एव स्पष्ट है कि महाकाव्य का इतिवृत्त प्रायः ख्यात होता है जबकि उपन्यास का इतिवृत्त ख्यात और काल्पनिक दोनों प्रकार का हो सकता है और फिर भी प्रमुखता काल्पनिक इतिवृत्त को ही दी जाती है। दूसरा अन्तर यह है कि महाकाव्य के इतिवृत्त की प्रस्तुति पद्य में की जाती है और उपन्यास के इतिवृत्त की प्रस्तुति गद्य मे की जाती है। विषय-सामग्री का दूसरा अंग है जीवन को समीप से देख कर या भोग कर उसकी अभिव्यक्ति करना। यह बात सही है कि काव्य मूलत जीवन की व्याख्या होता है। अतः यह उपन्यास की ही विषय-सामग्री का वैशिष्ट्य नही माना जा सकता, तो भी हमें यह मानना होगा कि उपन्यास मे जीवन को प्रस्तुत करने की लेखक की अपनी एक निराली शैली होती है। काव्य की अन्य विधाओं में लेखक जीवन की कल्पनात्मक अनुभूतियों को भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना लेता है जबकि उपन्यास मे अधिकतर उपन्यासकार अपने द्वारा प्रत्यक्षतः भोगे हुए जीवन की अभिव्यक्ति को ही महत्त्व देता है। उदाहरणार्थ—रामचरित मानस मे तुलसी के भोगे हुए जीवन की इतनी अभिव्यक्ति नही है बल्कि तुलसी के जीवन के प्रति उच्चादर्श की जो कल्पना है, उसे स्वरूप मिला है जबकि प्रेमचन्द के गोदान मे 'होरी' के रूप में स्वयम् प्रेमचन्द पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है क्योंकि प्रेमचन्द ने स्वयम् 'होरी' के जीवन को जिया है। जहाँ तक मेरा विचार है, मानस मे कल्पनात्मक अनुभूति का प्राधान्य है तो गोदान मे स्वयम् मुक्त जीवनानुभूति की तीव्रता है। इस प्रसंग में मेरा मन्तव्य यह कदापि नही है कि काव्य की अन्य विधाओं में भोगे हुए जीवन की अनुभूति का और उपन्यास मे कल्पनात्मक अनुभूतियों का नितान्त अभाव होता है। मेरा तो इतना ही कहना है कि इनकी सम्बद्ध काव्य-विधाओं में प्रधानता होती है। इस आधार पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि महाकाव्य आदर्श-जीवन की स्थापना करता है जो मानव मात्र को उसके अनुकरण के लिए प्रेरित करता है जबकि उपन्यास जीवन के यथार्थ की व्याख्या करता है जो जीवन की वास्तविकता है। इसे यों भी स्पष्ट किया जा सकता है कि मैं राम नहीं हूँ बल्कि मुझे राम बनने का प्रयास करना चाहिए; यह महाकाव्य का मन्तव्य है जब कि मैं 'होरी' हूँ या गोबर हूँ और यदि मैं नहीं हूँ तो यह अवश्य कहूँगा कि मेरा पड़ोसी या अमुक व्यक्ति होरी या गोबर का जीवन जी रहा है, यही उपन्यास का मन्तव्य है। यही कारण है कि महाकाव्य उपन्यास की तुलना में अधिक कालजयी होता है। एक का प्राण गाम्भीर्य में निहित होता है और दूसरे का मनोरञ्जन में अथवा मम्मट के शब्दों में 'कान्ता सम्मित तयोपदेश

युजे' में निहित होता है। इन्हीं कुछ आधारों पर काव्यमर्मज्ञ मनीषियों ने अपने-अपने चिन्तन के अनुसार उपन्यास को परिभाषित करने का प्रयास किया है। हिन्दी में उपन्यास विधा के जन्मदाता मुंशी प्रेमचन्द उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मात्र समझते हैं। उनका कथन है कि 'मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।' मुंशी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अपनी परिभाषा को पूर्णतः चरितार्थ किया है। जब प्रेमचन्द साहित्य मञ्च पर अवतरित हुए तो न केवल भारतीय अपितु विश्व मानवों की एक बहुत बड़ी संख्या सत्ताधीशों एवं पूञ्जीपतियों के शोषण एवं संत्रास से कराह रही थी। उसी कराह, पीड़ा, सन्त्रास का अनुपम चित्र मुंशी जी के उपन्यासों में देखा जा सकता है।

स्व. प्रसाद जी उक्त परिभाषा को किञ्चित् सशोधित करते हैं। उनका कथन है कि 'मुझे कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में 'यथार्थ' का आँकना सरल प्रतीत होता है। यही कारण है कि प्रसाद जी प्रेमचन्द की तुलना में अधिक यथार्थवादी हैं। श्री जैनेन्द्र कुमार जहाँ उपन्यास में फ्रायड के 'यौन' सिद्धान्त को साकार रूप प्रदान करना पसन्द करते हैं, वहाँ भगवती प्रसाद वाजपेयी मार्क्स को अपना आदर्श मानते हैं। दोनों के कथन इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं; श्री जैनेन्द्र कुमार का कथन है कि "पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्म-पीडन के ही साधन हैं। इसीलिए मैंने उनमें काम-वृत्ति की प्रधानता रखी है। क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्म-पीडन का तीव्रतम रूप है।" उधर श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी का कथन है कि "मानव-मुक्ति जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे गाँधी या शरत् नहीं बनना है—शोलोखोव और स्टालिन बनना है। एक परिभाषा डॉ. श्यामसुन्दर दास जी ने प्रस्तुत की है। आपका कथन है कि 'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।' यह परिभाषा किसी सीमा तक सही है किन्तु इसमें अव्याप्ति दोष समाहित है। ऐतिहासिक उपन्यासों को इस परिभाषा में नहीं समेटा जा सकता। डॉ. दशरथ ओझा ने एक अंग्रेजी विद्वान् रिचार्ड बर्टन की परिभाषा को प्रस्तुत करते हुए उसे अधिक समीचीन परिभाषा माना है। आपने उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

उपन्यास गद्य में रचित, कवि के समकालीन जीवन का अध्ययन है। समाज के उत्थान की भावना से अनुप्राणित हो कलाकार इसकी रचना करता है। इसके लिए प्रेम तत्त्व को प्रधान साधन बनाता है, इसलिए कि प्रेम ही एक ऐसा माध्यम है जो मनुष्य को सामाजिक बन्धनों में बाँध देता है।" इस परिभाषा में प्रेम जैसे व्यापक शब्द का प्रयोग कर श्री बर्टन ने उपन्यास को परिभाषित करने का प्रयास किया है किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रेम जीवन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व तो है किन्तु वह जीवन का सर्वस्व नहीं है। दूसरे, इस परिभाषा में यथार्थ की

तुलना में श्रादर्श को महत्त्व दिया गया है। केवल 'प्रेम' शब्द प्रयोग कर देने से ही कोई परिभाषा या किसी विधा का स्वरूप समीचीन या महत्त्वपूर्ण नहीं बन जाता। मैं यह समझता हूँ कि उपन्यास गद्य-काव्य की एक सर्वाधिक गतिशील विधा है। जिस प्रकार जीवन श्रौर उसके मूल्य युगानुकूल परिवर्तित होते रहते हैं, उसी प्रकार उपन्यास भी अपने स्वरूप को परिवर्तित करता रहता है, फिर भी कुछ मूलभूत तत्त्व उसके स्वरूप में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। उक्त दोनों तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए ही हमें उपन्यास को परिभाषित करना चाहिए श्रौर उसके स्वरूप का निर्धारण करना चाहिए। मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार उपन्यास वह गद्यमयी रचना है जिसमें मानव-जीवन की विभिन्न अवस्थाश्रों का ख्यात या उत्पाद्य इतिवृत्त के माध्यम से कथात्मक शैली में यथार्थ किन्तु प्रभावक चित्र प्रस्तुत किया जाता है। सामयिकता एवं गतिशीलता चिन्तन के सहयोग से इसके कलेवर का निर्माण करती है।

उपन्यास के तत्त्व

काव्य के निर्माण में मूलभूत सामग्री की आवश्यकता होती है श्रौर उसका अपना कोई उद्देश्य भी होता है। इन दोनों वस्तुश्रों की अनुभूति जब साकार रूप धारण करने को उत्कण्ठित हो उठती है, तब कलाकार को भाषा का आश्रय लेना होता है तथा उसे यह तय करना होता है कि उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार या रूप क्या होगा। इन सभी महत्त्वपूर्ण संघटनाश्रों को आचार्य लोग उस विधा के तत्त्वों के नाम से अभिहित करते हैं श्रौर ये तत्त्व ही सम्बद्ध विधा को साकार रूप प्रदान करते हैं। मैं पूर्वपृष्ठों में यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि उपन्यास एक गतिशील विधा है श्रौर युगानुरूप उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। फलतः उसके तत्त्वों की संख्या में भी घटत-बढ़त श्रौर तत्त्वों के लक्षणों में भी उतार-चढ़ाव आता रहता है। इस पर भी अभी-अभी प्रचलित तत्त्वों के आधार पर ही उपन्यास का निरीक्षण श्रौर परीक्षण होता आ रहा है। फलतः जब तक विद्वत्समाज एक स्वर से तत्त्वों के बहिष्कार अथवा नवीन तत्त्वों के समावेश को स्वीकृति नहीं दे देता, तब तक हम उपन्यास के प्रचलित तत्त्वों को स्वीकार कर उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। उपन्यास के प्रमुख छह तत्त्व माने जाते हैं—(1) कथावस्तु, (2) पात्र अथवा चरित्र-चित्रण, (3) संवाद अथवा कथोपकथन, (4) देश-काल श्रौर वातावरण, (5) भाषा-शैली श्रौर (6) उद्देश्य।

(1) कथावस्तु

उपन्यास कथात्मक विधा है श्रौर ऐसी विधा के लिए किसी कथानक या इतिवृत्त का होना अनिवार्य है। आजकल जो कथानक-विहीन उपन्यासों की बात कही जाती है, वह या तो फैशन है या कोरी कल्पना है। कथानक-विहीन उपन्यास की कल्पना भी नहीं की जा सकती, वास्तविक लेखन की बात तो दूर रही।

डॉ० घनश्याम मधुप ने 'हिन्दी उपन्यास मूल तत्व विवेचन' लेख मे अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी', धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उपन्यासों को कथानक विहीन उपन्यास कहा है किन्तु उन्होंने इतना भी सोचने का प्रयास नहीं किया कि उक्त उपन्यासों के नाम ही उनमे निहित इतिवृत्त या कथानक की घोषणा करते है। यदि 'जीवनी' भी कथानक विहीन हो सकती है तो फिर आगे क्या कहा जाए। मैं जहाँ तक समझता हूँ डॉ० मधुप कथानक और कथानक-सगठन या कथानक-विकास में अन्तर नहीं कर पाए। कथानक तो उपन्यास मे होगा ही, यदि वह विधा उपन्यास है। हाँ ! यह इतरवार्ता है कि कोई प्रतिभाशाली कलाकार कथा-साहित्य मे किसी नवीन विधा का आविष्कार कर रहा हो जो कथानक विहीन हो। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कथानक या कथावस्तु सुसगठित होनी चाहिए या उसके लेखक को सगठन का प्रयास करना चाहिए। यहाँ पर विद्वानो मे निश्चय ही मतभेद है और वह तात्त्विक है, सामान्य नहीं। कारण स्पष्ट है कि उपन्यास मानव-चरित्र का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है और मानव-चरित्र कभी भी क्रमबद्ध या सुनियोजित नही होता क्योंकि मानव को स्वयं ज्ञात नही होता कि उसके जीवन मे कल क्या घटित होने वाला है। तब फिर मानव-चरित्र को प्रस्तुत करने वाली विधा उसे क्रम-बद्ध रूप में क्यों प्रस्तुत करे ? यह विवाद वस्तुतः दो कारणो से उत्पन्न हुआ और वह भी पाश्चात्य-जगत् मे। एक तो यह कि काव्य-शास्त्री प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप मे आज भी स्वीकार करते है कि साहित्य प्रकृति या जीवन की अनुकृति है। इस प्रसग में उनका कहना है कि जब मूल वस्तु ही क्रमबद्ध नही है तो उसकी अनुकृति क्रम-बद्ध क्यों हो ? दूसरा कारण है बुद्धिवाद का अभ्युदय। हम प्रत्येक वस्तु की व्याख्या तर्क के आधार पर करना चाहते हैं और उसका तर्कसंगत परिणाम भी चाहते है। ऐसी स्थिति में हृदय से सम्बद्ध साहित्य को भी उसमें घसीट ले जाते है। भारतीय मनीषा का मन्तव्य इसके विपरीत है। भारतीय आचार्य साहित्य को जीवन का अनुकरण नही मानते बल्कि उनके मतानुसार साहित्य जीवन की सृष्टि है और कवि स्रष्टा है। 'रामचरित मानस' राम के जीवन की अनुकृति नही है बल्कि राम के जीवन की सृष्टि है। उपनिषदों में भी इस तथ्य को 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू.' कह कर स्पष्ट कर दिया गया है। इस पर भी यदि हम अपने को हीन मानें तो उस रोग की कोई दवा नहीं है। अब प्रश्न आया क्रमबद्धता का। वास्तविक जीवन मे चाहे क्रमबद्ध घटनाएँ घटित न होती हों किन्तु कवि की कल्पित सृष्टि क्रमबद्ध ही होगी क्योंकि कवि वही नहीं कहता जो है बल्कि उसे भी कहता है जो होना चाहिए। तीसरे, उसे अपनी सृष्टि का हाड-मांस के मानवों को परिचय देना होता है तब वह उसे सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना चाहेगा और कथानक में घटनाओ की क्रमबद्धता विधा को सुन्दर रूप प्रदान करती है।

उपन्यास की कथावस्तु को मुख्यतः तीन भागो में विभाजित किया जा

सकता है—(i) आधिकारिक कथावस्तु, (ii) प्रासंगिक कथावस्तु तथा (iii) अवान्तर घटनाएँ। (i) आधिकारिक कथावस्तु मूल कथा होती है, जो प्रारम्भ से अन्त तक चलती है तथा नायक के चरित्र से सम्बद्ध होती है। कथा का मूल उद्देश्य इसी में निहित रहता है। (ii) प्रासंगिक कथावस्तु आधिकारिक कथावस्तु की सहायक होती है तथा आधिकारिक कथावस्तु के प्रारम्भ होने के कुछ समय पश्चात् प्रारम्भ होती है और मूल कथा के समाप्त होने से पहले समाप्त हो जाती है। (iii) अवान्तर घटनाएँ वे होती है, जो यथासमय आवश्यकतानुसार घटित होती रहती हैं। कुछ घटनाएँ नायक से और कुछ घटनाएँ प्रतिनायक या खलनायक से सम्बद्ध होती हैं। इन सबको शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत करना ही लेखक की विशेषता है।

कथावस्तु की विशेषताएं—जैसा कि कहा जा चुका है, कथावस्तु उपन्यास का महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। किसी भी उपन्यासकार की सफलता पर्याप्त सीमा तक उसके कथावस्तु-निर्माण में निहित होती है। कथावस्तु के चयन एवं विकास में लेखक को निम्नलिखित विशेषताओं का ध्यान रखना चाहिए—(i) मौलिकता (ii) एकसूत्रता या क्रमबद्धता, (iii) रोचकता, (iv) कुतूहल, और (v) सम्भाव्यता।

(i) मौलिकता—कथानक का चयन या निर्माण करते समय लेखक को देख लेना चाहिए कि उसका इतिवृत्त घिसा-पिटा एवं बहुप्रयुक्त न हो। यों तो विषय-सामग्री की दृष्टि से मौलिकता लाना अत्यन्त क्लिष्ट कार्य होता है किन्तु सुधी लेखक अपनी लेखनी के बल पर उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह मौलिकता का आवरण धारण कर लेता है और उसमे पिष्ट-पेषण की गन्ध नहीं आने देता। नवीनता काव्य का आकर्षक तत्त्व होता है और उसे कथानक के माध्यम से लाया जा सकता है।

(ii) एकसूत्रता या क्रमबद्धता—उपन्यास में अनेक घटनाओं का सन्निवेश रहता है। मेधावी कलाकार इन घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में एक सूत्र में इस प्रकार पिरो देता है कि समस्त कथानक एक माला के रूप मे दिखाई देने लगता है अथवा यों कहिए कि वह नदी के प्रवाह के समान एक रूप हो जाता है, जिसमें गिरने वाले अनेक नाले उसी के अभिन्न अंग हो जाते हैं। कथानक में घटनाओं का बिखराव उसकी गति में बाधक हो जाता है। समान प्रवाह में बाधा उपस्थित हो जाती है और इस प्रकार ऊबड़-खाबड़ कथा-प्रवाह पाठकों के मन में अरुचि को जन्म दे देता है। फलत उपन्यास असफल हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि उपन्यास के कथानक में एकसूत्रता का रहना अनिवार्य है।

(iii) रोचकता—कथावस्तु की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसकी रोचकता। यह लेखक की प्रतिभा पर निर्भर करता है कि वह अपने कथानक को अधिकाधिक रोचक बना कर उसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करे। प्रारम्भ से अन्त

तक पाठक को ऊबने न दे। कथा का विकास ऐसे प्रवाह के साथ गतिशील हो कि पाठक का मन भी उस प्रवाह में प्रवहमान हो जाए। यह सब कुछ कथानक के चयन पर निर्भर करता है।

(iv) कुतूहल—उपन्यासकार को चाहिए कि वह अपने कथानक का ताना-बाना इस प्रकार बनाए कि पाठक की जिज्ञासवृत्ति जाग्रत हो जाए। कथानक में कुतूहल की इस प्रकार स्थापना करे कि मानव-मन 'आगे क्या होगा' की जानकारी के लिए लालायित हो उठे। ऐसा कुतूहल उपन्यास की समाप्ति तक बना रहना चाहिए। उपन्यास के अन्त में कुछ उपन्यासकार तो उस वृत्ति का तोष प्रस्तुत कर देते हैं किन्तु कुछ उपन्यासकार कुतूहल की तृप्ति करवाये बिना ही उपन्यास को समाप्त कर देते हैं और 'अन्त क्या होना चाहिए' का समाधान पाठक की कल्पना पर छोड़ देते हैं।

(v) असम्भाव्यता—'असम्भाव्यं न वक्तव्यं, प्रत्यक्षमपि दृश्यते।' यदि आपने प्रत्यक्ष भी देख लिया है तो भी असम्भव का कथन मत करो क्योंकि ऐसा करने से आप पर से लोगों का विश्वास उठ जाएगा। इसी सूत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास के कथानक में ऐसी किसी घटना, तथ्य या वस्तु का समावेश नहीं करना चाहिए जो पाठकों को असम्भव प्रतीत हो। आप कथानक में रोचकता लाने के लिए अद्भुत या अलौकिक तत्त्व का सन्निवेश कर सकते हैं किन्तु उसकी प्रस्तुति इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह अलौकिकता केवल रोचकता तक ही सीमित रहे और प्रस्तुति में इतनी सतर्कता बरतनी चाहिए कि वह असम्भव न बन जाए। उपन्यासकार को घटनाचक्र इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए जिसका पाठक अपने या अपने साथी के जीवन के साथ सरलता से मिलान कर सके। उसे वह कल्पना-लोक की अप्सराओं के समान न लगे।

(2) पात्र अथवा चरित्र-चित्रण

उपन्यास का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है पात्र अथवा चरित्र-चित्रण। यह बात भली-भाँति जान लेनी चाहिए कि जहाँ पर कथानक होगा उसमें घटना-क्रम होगा। जहाँ पर घटना-क्रम होगा, वहाँ पर पात्र होंगे और जहाँ पर पात्र होंगे तो उनका अपना चरित्र होगा। अब यह बात उपन्यासकार पर निर्भर करती है कि वह घटनाओं को प्रधानता देता है अथवा चरित्र को। उपन्यास-साहित्य के प्रारम्भिक काल में उपन्यासों में घटना-क्रम को प्रधानता दी जाती थी और पात्र घटनाओं के अनुकूल कार्य करने को बाध्य होते थे किन्तु आज के इस वैज्ञानिक युग में विद्वानों ने निर्धारित किया है कि घटनाओं के अनुसार आचरण करने वाले पात्र जीवन्त नहीं हो सकते क्योंकि वे तो घटनाक्रम के चेरे हो जाते हैं और उनके अपने व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं रह जाता। दूसरे, मनोविज्ञानवेत्ताओं का अभिमत है कि मानव-चरित्र ही अपने व्यक्तित्व के अनुरूप घटनाओं को जन्म देता है। अतः स्पष्ट है कि घटनाएँ पात्र नहीं बनातीं

बल्कि पात्र ही घटनाओं के सर्जक होते हैं और इसी आधार पर विद्वान् उपन्यास साहित्य को दो वर्गों में विभाजित करते हैं—(i) घटना प्रधान और (ii) चरित्र प्रधान। अधुना यह सर्वसम्मत मत है कि उच्चकोटि के उपन्यास घटना-प्रधान नहीं बल्कि चरित्र-प्रधान होते है।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों में पात्रों का चयन अत्यन्त समझदारी के साथ करना पड़ता है क्योंकि पात्रों के चरित्र पर ही समस्त उपन्यास का ढाँचा खड़ा होता है। पात्रों का चयन यद्यपि इतिवृत्त के चयन पर निर्भर करता है तथापि उपन्यासकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा निर्मित पात्र इसी संसार के चलते-फिरते सजीव मानव हैं। महाकाव्य और उपन्यास में यही पर अन्तर स्पष्ट होता है। महाकाव्य का नायक सर्वगुण सम्पन्न एव दूषण रहित होता है। वह हमारे जैसा नहीं बल्कि अपने उच्चगुणों के कारण हमसे विशिष्ट होता है और उसका चरित्र हमारे लिए अनुकरणीय होता है। इसके विपरीत उपन्यास का नायक हमारे जैसा गुण-दोषमय मानव होता है, किन्तु होता है हमसे सशक्त। हम उसे अपने लोगों में ही चिह्नित कर सकते हैं। हम संक्षेप में कह सकते है कि उपन्यास के पात्र मौलिक, सजीव, सशक्त एव इसी लोक के होने चाहिए। उनका सर्जन हो जाने के पश्चात् उपन्यासकार को उन्हें उनके चरित्र के अनुसार विचरण करने देना चाहिए। उपन्यासकार के अनावश्यक हस्तक्षेप से उनकी जीवन्तता के विकृत हो जाने का भय उपस्थित हो जाएगा। पात्रों के चरित्र का विकास सहजरूप में कथानक के विकास के साथ-साथ होते रहना चाहिए। इस प्रकार प्रतिभाशाली उपन्यासकार पात्रों के चारित्रिक विकास को प्रस्तुत करने के लिए अनेक शैलियों का प्रयोग करता है जिनमे प्रमुख ये हैं—(1) पात्र के चरित्र के सम्बन्ध में उपन्यासकार का कथन, (11) पात्रों के परस्पर वार्तालाप, (111) पात्रों के कृत्य, और (iv) पात्र विशेष का स्वय का कथन।

(i) पात्रों के सम्बन्ध में उपन्यासकार का कथन—महाकाव्यकार, उपन्यासकार कहानीकार आदि को यह अधिकार प्राप्त है कि वह जहाँ चाहे और आवश्यक हो, स्वयं कृति में उपस्थित हो जाता है और अपने कथन से पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालता है या वातावरण का निर्माण करता है। लेखक यथास्थान प्रमुख पात्रों के बाह्य स्वरूप का परिचय प्रस्तुत करता है। उनकी आकृति, वेश-भूषा, रूप-रग और कभी-कभी उनकी प्रमुख प्रवृत्ति का विवरण भी प्रस्तुत कर देता है। इससे पाठकों के मस्तिष्क में पात्र-विशेष का एक रूप या आकार अंकित हो जाता है और फिर अन्त तक वह सम्बद्ध पात्र को उस रूप मे देखना चाहता है और उसका मूल्यांकन करता है। यदि कहीं लेखक पात्र को उसके चरित्र के विपरीत अंकित करना चाहता है तो वहाँ पर भी उसे उपस्थित होकर स्थिति को स्पष्ट करना होता है अन्यथा चरित्र के विपरीत कार्य करने से उपन्यास की सफलता धूमिल होने लगती

है। अतः स्पष्ट है कि उपन्यासकार को इस ओर सतर्क रहना चाहिए कि उसने पात्र के व्यक्तित्व को जिस प्रकार अंकित किया है, वह उसी के अनुकूल आचरण करे।

(ii) पात्रों के परस्पर वार्तालाप—उपन्यास का एक तत्त्व कथोपकथन भी होता है। इसी पारस्परिक वार्तालाप में पात्र कभी अपने लिए और कभी दूसरों के लिए कुछ टिप्पणियाँ करते हैं। ये टिप्पणियाँ सम्बद्ध पात्र के चरित्र को प्रकाशित करती हैं।

(iii) पात्रों के कृत्य से—उपन्यास में पात्रों का चारित्रिक विकास केवल किसी या किन्हीं के कथनों से ही नहीं होता है बल्कि पात्र द्वारा किये गये कार्य से भी उसका चरित्र विकसित होता है। यदि देखा जाए तो पात्र के सही चरित्र का दर्शन उसके द्वारा किये गये कार्य से ही होता है और उसी का प्रबल प्रभाव पाठकों पर पड़ता है। अतः उपन्यासकार को चाहिए कि वह पात्रों के चरित्र के अनुसार उनसे विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कार्यों का सम्पादन भी करवाए। ऐसा करने से उन में सजीवता का समावेश होगा।

(iv) पात्र विशेष का स्वयम् का कथन—उपन्यास में अनेक स्थल ऐसे आते हैं जहाँ पात्र-विशेष स्वयम् के लिए टिप्पणी करता है या अपने सम्बन्ध में कुछ कहता है। ऐसे कथनों एवं टिप्पणियों से भी पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और चतुर उपन्यासकार इससे भरपूर लाभ उठाता है।

चरित्र के प्रकार

उपन्यास में आगत पात्रों का व्यक्तित्व अनेक रूपों में प्रकट होता है। विद्वानों ने ऐसे प्रकारों को चार वर्गों में विभाजित करने का प्रयास किया है—(i) व्यक्ति प्रधान चरित्र, (ii) वर्ग प्रधान चरित्र, (iii) स्थिर चरित्र, और (iv) गतिशील चरित्र।

(i) व्यक्ति-प्रधान चरित्र—सामान्य तौर पर विश्व मानव समान प्रतीत होते हैं किन्तु जब हम गहराई से अवलोकन करते हैं तो ज्ञात होता है कि उनमें परस्पर अन्तर होता है। प्रेमचन्द ने इस तथ्य को यों स्पष्ट किया है—

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलती, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ-पाँव, आँखें, नाक-कान और मुँह होते हैं, पर इतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सभी चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। वस्तुतः सभी मनुष्यों का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है जो उनके गुण दोषों पर आधृत रहता है। ऐसे पात्रों का सर्जन उन उपन्यासों में किया जाता है जिनमें वैयक्तिकता को प्राधान्य देने की इच्छा लेखक की होती है। ऐसे चरित्रों में उस व्यक्ति जैसा वह स्वयम् ही होता है, कोई अन्य नहीं।

(ii) वर्ग-प्रधान चरित्र—कुछ उपन्यास किसी वर्ग विशेष के समग्र स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए लिखे जाते हैं; यथा—पूँजीपति, शासक, श्रमिक, किसान

एवं अन्य । ऐसे उपन्यासों मे ऐसे चरित्रो की सृष्टि की जाती है जो किसी एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं । वहाँ पात्र-विशेष का आचरण उसका व्यक्तिगत आचरण न होकर समुदाय विशेष या वर्ग-विशेष के आचरण का प्रतीक होता है । इस प्रसग मे यह द्रष्टव्य है कि ऐसे पात्र केवल वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हो, ऐसी बात नही है । उनमें उसके व्यक्तिगत आचरण का भी समावेश रहता है । ऐसा न होने पर पात्र की सजीवता पर आँच आने की सम्भावना रहती है । फलत. लेखक अत्यन्त चातुर्य से उक्त दोनो प्रकार के आचरणो का ऐसा अद्‌भुत मिश्रण करता है कि वह सत्य और विश्वसनीयता से युक्त हो जाता है । गोदान का 'होरी' निश्चय ही किसान वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है ।

(iii) **स्थिर चरित्र**—उपन्यासकार अपने उपन्यास मे कुछ ऐसे चरित्रों की भी सृष्टि करता है जो आद्यन्त समान रहते है । यदि कोई पात्र प्रारम्भ मे सज्जन है तो वह अन्त तक किसी भी परिस्थिति मे अपनी सज्जनता का परित्याग नही करता है और इसी प्रकार खल पात्र भी । ऐसे पात्रों को स्थिर चरित्र के नाम से अभिहित किया जाता है । उनके आचरण मे जीवन के उत्थान-पतन का कोई प्रभाव नही पडता । वस्तुत ऐसे पात्रों के अपने कुछ निश्चित सिद्धान्त होते है और वे किसी भी लोभ या सुख के लिए उनका परित्याग नही करते ।

(iv) **गतिशील चरित्र**—गतिशील चरित्र वे होते हैं जो परिस्थिति की हवा के अनुकूल अपने को ढाल लेते है । उनका चरित्र प्राय: परिवर्तनशील होता है । वे समय के अनुसार सज्जनता, खलत्व, निर्धनता, सम्पन्नता आदि के रूप मे आचरण करने लगते है । ऐसे चरित्रो को दो रूपो मे देखना चाहिए । एक तो वे चरित्र जो स्वयम् विपरीत परिस्थितियो को जन्म दे बैठते है और दूसरे, वे जो विपरीत परिस्थितियों से घिर जाते हैं । कुछ विद्वान् ऐसे चरित्रो के लिए प्रगतिशील या विकासशील शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो उचित प्रतीत नही होता क्योंकि प्रगति या विकास पात्र के स्थिर चरित्र की ओर इंगित करते है जबकि गतिशीलता उसके परिवर्तनशील व्यक्तित्व का द्योतन करती है । दूसरे, स्थिर चरित्र की तुलना मे 'गतिशील-चरित्र' का प्रयोग अधिक सगत है ।

अन्त में इस प्रसग में एक बात और बता देना चाहता हूँ और वह यह कि उपन्यासकार को पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व को अवश्य प्रस्तुत करना चाहिए । मनोविज्ञान-वेत्ताओं का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्यक्ष क्रिया-कलाप उसकी मानसिक कुण्ठाओं, ग्रन्थियों, अथवा अचेतन मन की अवधारणाओं का परिणाम होते है । उपन्यास में इन सब का प्रकाशन पात्र के अन्तर्द्वन्द्व जैसे साधन द्वारा सरलता से किया जा सकता है । अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से पात्र विशेष की मानसिक स्थिति का उद्घाटन अधिक सुन्दर ढंग से किया जा सकता है ।

(3) संवाद अथवा कथोपकथन

दो पात्रों के परस्पर वार्तालाप को सवाद या कथोपकथन कहा जाता है। आचार्यों, आलोचकों एव स्वयम् उपन्यास लेखकों का यह अभिमत है कि उपन्यास मे संवादों की योजना उसका एक अनिवार्य तत्त्व है। उपन्यास मे नियोजित सवादो से अनेक लाभ हैं। पहले तो उपन्यास एक वर्णनात्मक विधा है किन्तु लगातार वर्णनों या विवरणों को प्रस्तुत करने से उपन्यास में अरोचकता आ जाती है और अरोचकता एक बहुत बड़ा दोष है। इसी दोष के परिहार के लिए उपन्यासो में सवादो की योजना की जाती है। यहाँ पर द्रष्टव्य है कि संवाद उपन्यास मे अरोचकता का निराकरण ही नही करते वल्कि उसमे रोचकता का सन्निवेश भी करते है। अनेक बार किसी पात्र के मुख से निकला कथन पाठक के मर्म को झकझोर देता है और वह एक आदर्श उक्ति का स्थान ग्रहण कर लेता है जैसे कंकाल का 'पाप वह है जो समाज से छुपकर किया जाता है' या चन्द्रगुप्त नाटक का 'महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी मे पलता है' आदि कथन।

संवादों की दूसरी आवश्यकता है कथानक के विकास और चरित्र की स्पष्टता के लिए किया गया उनका प्रयोग। यदि संवाद कथानक के विकास और पात्रों के चरित्र को प्रकाशित करने मे सहायक नही होते है तो वे व्यर्थ है और उपन्यासकार की असफलता के द्योतक होते हैं।

सवादों की तीसरी आवश्यकता यह है कि लेखक अपनी प्रमुख विचारधारा को किसी प्रमुख पात्र के माध्यम से प्रस्तुत कर सकता है क्योंकि लेखक अपने मुख से उसका कथन नही कर सकता। यदि वह ऐसा करने का प्रयत्न करेगा तो पाठक और वस्तु के तादात्म्य मे व्यवधान उपस्थित हो जाएगा।

उपर्युक्त कारणों से उपन्यासों में संवादों का स्थान अक्षुण्ण माना जाता है। इस प्रसग में यह ध्यातव्य है कि सवाद छोटे-छोटे होने चाहिए। लम्बे सवादों से पाठक ऊब जाता है और पन्ने पलटने लगता है। दूसरे, संवाद चुस्त, सशक्त और पात्र के चरित्र के परिचायक होने चाहिए। उच्च चरित्रों से सामान्य स्तर का कथन और सामान्य चरित्रों से उच्च एवं गम्भीर दार्शनिक अभिव्यक्ति करवाना उपयुक्त नही होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि संवाद पात्र के मानसिक एवं बौद्धिक धरातल के अनुकूल होने चाहिए।

सवादो की भाषा भी प्रसगानुकूल एवं पात्र के चरित्र के अनुरूप रहनी चाहिए। सुसंस्कृत पात्र के द्वारा फूहड़ एवं ग्रामीण भाषा का प्रयोग करवाना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करना होगा। इसी प्रकार सामान्य वार्तालाप मे पारिभाषिक शब्दावली का और गम्भीर वार्तालाप मे सामान्य शब्दावली का प्रयोग सवादों में नही करवाना चाहिए। भाषा सुसगठित, सशक्त और छोटे-छोटे वाक्यों वाली होनी चाहिए।

(4) देश-काल और वातावरण

उपन्यास का यह तत्त्व भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है मुख्यतः ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यासो में । हमे इस तथ्य को विस्मृत नही करना चाहिए कि व्यक्तित्व के निर्माण में देश-काल और वातावरण का बहुत बडा हाथ होता है । जैसाकि कहा जाता है कि यदि कबीरदास जी आज के युग मे जन्म लेते तो एक राजनीतिक नेता होते और गांधी जी यदि चौदहवी एव पन्द्रहवी शताब्दी में जन्म लेते तो एक समाज सुधारक भक्त होते । यह कथन देश-काल और वातावरण की योजना की अनिवार्यता का शख-नाद करता है ।

चाहे किसी भी प्रकार का उपन्यास हो, उसके लेखक को उस समय के क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थिति और सास्कृतिक विचारधारा, रीति-रिवाज, रहन-सहन वेश-भूषा आदि का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए अन्यथा लेखक राजस्थान के रेगिस्तानी प्रदेश मे नदियों की बाढ और उत्तरप्रदेश जैसे क्षेत्र मे बालू के उड़ने गुब्बारो का प्रदर्शन कर बैठेगा जो उस का अक्षम्य दोष होगा ।

वस्तुत· वातावरण पात्र के चारित्रिक विकास की पूर्व पीठिका का कार्य सम्पन्न करता है । कैसे वातावरण में पात्र किस प्रकार अपने को प्रस्तुत करेगा, उस मे किस प्रकार के मनोवेगो का उदय होगा आदि का सम्यक् चित्रण समुचित वाता-वरण-निर्माण पर ही निर्भर करेग । इसलिए कहा जाना है कि उपन्यास लेखक को उपन्यास लिखने से पूर्व एतत्सम्बन्धी देश-काल और वातावरण का अच्छा परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए ।

आजकल एक धारा उपन्यासों मे चली है जिसमे पुरातन-पात्रों के माध्यम से सामाजिक समस्याओ का अवगाहन एवं अवलोकन अथवा यो कहिए कि पुरातन इतिवृत्त का आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुतीकरण किया जाता है । यह एक अत्यन्त स्तुत्य प्रयास है किन्तु ऐसे उपन्यासों में वातावरण-निर्माण मे लेखक त्रुटि कर बैठता है । आजकल रामायण पर आधृत नरेन्द्र कोहली के उपन्यास पर्याप्त लोक-प्रिय एवं चर्चित हैं, किन्तु मुझे उस समय आघात लगा जब मै उनके 'सघर्ष की ओर' खण्ड को पढ़ रहा था । उसमें लेखक ने 'खान मजदूरो के शोषण' को प्रस्तुत किया है । जिस रूप में उस प्रसग को प्रस्तुत किया है, मेरी दृष्टि मे वहां देश-काल का हनन हुआ है । एक देवता (इन्द्र) एवं एक असुर को खान-मालिक के रूप में और राम को एक ट्रेड यूनियन के नेता के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो उस युग के प्रतिकूल प्रतीत होता है । यदि 'श्री कोहली' सगठन की इस प्रक्रिया को किसी अन्य प्रकार मे उस युग के अनुरूप प्रस्तुत करते तो उपन्यास अधिक सुहावना बनता । उसी समय लक्ष्मण को अविवाहित घोषित करना भी पौराणिकता का हनन ही कहा

जाएगा। ग्रतः स्पष्ट है कि उपन्यास में देश-काल के ग्रनुरूप वातावरण का चित्रण आवश्यक है ग्रन्यथा पात्रों के चरित्र एवं कथा का विकास सम्यक् प्रकार से नहीं हो पाएगा। हाँ ! इतना ग्रवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वातावरण-निर्माण लम्बा ग्रौर ऊबाने वाला न हो ग्रौर उसका निर्माण पात्रों के क्रिया-कलापों ग्रौर मनोवेगों के ग्रनुकूल हो। ग्रच्छे लेखकों के वातावरण-निर्माण से ग्रागे की घटना ग्रथवा कार्यक्रम का ग्राभास पाठकों को होने लगता है।

(5) भाषा ग्रौर शैली

भाषा के माध्यम से उपन्यास का समस्त कलेवर साकार रूप प्राप्त करता है। ग्रतः उपन्यासकार का भाषा पर पूर्ण ग्रधिकार होना चाहिए। भाषा से ही उपन्यास का कला पक्ष उभरता है। भाषा के प्रयोग में सर्वप्रथम यह ध्यान रखना चाहिए कि वह परिमार्जित ग्रौर ग्रलंकृत हो तथा उस में ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जाना चाहिए कि वह पात्रों के मन्तव्य को व्यक्त करने की क्षमता रखती हो तथा उसमें सम्प्रेषणीयता का गुण विद्यमान हो। भाषा में यथास्थान मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग ग्रपेक्षित है। ग्रावश्यकतानुसार उसके लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक प्रयोग भी किये जाने चाहिए। इससे भाषा में चमत्कार ग्रौर उपन्यास में रमणीयता ग्रा जाती है। भाषा प्रयोग की दूसरी विशेषता यह है कि वह पात्रानुकूल ग्रौर प्रसंगानुकूल हो। संक्षेप में यों कह सकते हैं सामान्य रूप में उपन्यास की भाषा प्राञ्जल, परिष्कृत एवं भावमयी होनी चाहिए। उसमें ग्रप्रचलित ग्रौर क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है उपन्यास में शैली का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। फलतः मूल रूप में वह सरल, सहज ग्रौर भावमयी शैली में लिखा जाना चाहिए। यदि भारतीय पद्धति के ग्रनुसार रीति को शैली का पर्याय मानें तो उपन्यास में वैदर्भी रीति का प्रयोग ग्रधिक काम्य है, क्योंकि उपन्यास ग्रन्य विधाग्रों की तुलना में ग्रधिक जन-साहित्य है ग्रौर मनोरंजन उसका प्रमुख प्रसाधन है। वैदर्भी में शृंगार, करुण ग्रौर शान्त रसों की प्रधानता होती है ग्रौर उसमें माधुर्य गुण का समावेश रहता है। ये सब मानव मन को प्रसादन के लिए सर्वथा उपयुक्त रसायन है, फिर हम तो 'उपन्यास प्रसादनम्' कहकर इस ग्रोर संकेत कर चुके हैं। यह तो हुई शैली या रीति की विशेषताएँ किन्तु ग्राजकल शैली के ग्रनेक प्रकार प्रचलित हैं जिन्हें हम शैली की शैलियाँ कह सकते है। उनमें से उपन्यासकार एक या एकाधिक शैलियों का प्रयोग ग्रपने उपन्यास में कर सकता है। संक्षेप में शैलियों के भेद इस प्रकार है—

(i) वर्णनात्मक शैली, (ii) मनोविश्लेषणात्मक शैली, (iii) पत्र शैली, (iv) डायरी शैली, (v) ग्रात्मकथात्मक शैली, ग्रौर (vi) कथा शैली।

(6) उद्देश्य

'प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते ।' के अनुसार मन्द व्यक्ति भी प्रयोजन रहित कार्य नही करता फिर उपन्यास जैसी विधा निरुद्देश्य और प्रयोजन-विहीन कैसे हो सकती है । फिर भी आज का युग विद्रोह का युग है, विशेषकर पुरातनता के प्रति अर्थात् प्राचीन मानदण्डो के प्रति । इस समय हम एक अद्भुत स्थिति से गुजर रहे है, वह यह कि हम पुरातन को चाहते नहीं और नवीन का सर्जन नही कर पा रहे । यह एक असमञ्जस की स्थिति है । इसे चिह्नित करते हुए मोहन राकेश ने लिखा है—"आज के युग मे जबकि जीवन अपने समग्र रूप में कही दीखता तक नही, उसके प्रतिरूप उपन्यास का कोई अन्तिम उद्देश्य निश्चित नही रह गया है । पुरानी परम्पराएँ हम से छूटती जा रही है और नयी परम्पराएँ विकसित नही हो पा रही । हमारे हृदयो मे उबलती हुई भावना विद्यमान है पर उस भावना के सामूहिक उफान के अवसर नही आ पाते । आज वर्तमान की यही सकुल पृष्ठभूमि हमें प्राप्त है । इतना होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि उपन्यासो मे कोई उद्देश्य निहित नही है ।

प्राचीन परम्परा के अनुसार तो हम कह सकते हैं किसी भी रस-विशेष की सम्यक् योजना ही उपन्यास का उद्देश्य है किन्तु यह तो अब केवल अतीत की बात हो गयी है । फिर आधुनिकतावादियो (फार्मलिज्म) के स्वर मे स्वर मिला कर यह कह सकते हैं कि शिल्प ही उपन्यास का उद्देश्य है । या फिर वर्जीनिया वुल्फ के शब्दो में कहे तो उपन्यास का उद्देश्य मानव मन पर पड़ी समय की छाप का अन्वेषण करना है । खैर ! जो कुछ हो, उपन्यासकार का उपन्यास लिखने का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है और उपन्यासकार को चाहिए कि वह कथानक और पात्रो के चारित्रिक विकास के माध्यम से अपने उद्देश्य को अवश्य स्पष्ट करे। यदि उपन्यासकार ऐसा न भी करे तो भी उपन्यास के समाप्त होते-होते एक बिम्ब का निर्माण पाठको के मस्तिष्क पर अवश्य हो जाता है, चाहे वह अस्पष्ट या धुँधला ही क्यो न हो और वही उपन्यासकार का उद्देश्य होता है । फिर भी मेरा यह मानना है कि उपन्यास का आविष्कार महाकाव्य की गुरु गम्भीरता से छुटकारा पाने के लिए किया गया है । फलतः उपन्यासकार को यथार्थ का ही अकन करना चाहिए और यही उसका उद्देश्य होना चाहिए किन्तु सावधान, यथार्थ के नाम पर अश्लील एव गर्हित अभिव्यक्तियों को अनुमति नही दी जा सकती । कम से कम भारत मे उसके सास्कृतिक घेरे मे ही यथार्थ का अकन होना चाहिए ।

उपन्यासों का वर्गीकरण

जैसा कि पूर्व-पृष्ठो मे उल्लेख किया जा चुका है कि उपन्यास मानव-जीवन के यथार्थ का रसात्मक चित्र होता है और यह विधा मानव-जीवन के सर्वथा समीप

होती है। यह विधा अपने वर्तमान रूप में आधुनिक काल की देन है और आधुनिक युग वैज्ञानिक युग है। विज्ञान के नवीन-नवीन आविष्कारों ने मानव को भी यन्त्रवत् बना दिया है। भावना का स्थान विचार ने ले लिया है और विचार बुद्धि के आश्रय में पले तर्क-वितर्कों से पुष्ट होता है। किन्तु अनावश्यक व उथले तर्क-वितर्क में मानव-मूल्यों में ह्रास और अपरिपक्वता की नवीनता का जन्म होता है और इस कारण मानव-चरित्र त्वरित गति में परिवर्तित होने लगता है, तदनुरूप उपन्यास का स्वरूप भी त्वरित गति से परिवर्तित हो जाता है। फलस्वरूप उपन्यास के विभिन्न प्रकारों का आविष्कार होता रहता है। आज के हिन्दी-साहित्य में उपन्यास के इतने प्रकार हैं कि उनके वर्गीकरण की विधि की स्थापना करना भी कठिन हो रहा है। उपन्यासों का वर्गीकरण किन-किन आधारों पर किया जाए, यह भी सम्भव नहीं हो पा रहा है फिर भी हम हिन्दी उपन्यासों का वर्गीकरण करने का प्रयास करेंगे। मैं समझता हूँ कि हिन्दी उपन्यासों का वर्गीकरण तीन दृष्टियों से तो किया ही जा सकता है—(1) इतिवृत्त की दृष्टि से (2) विषय-सामग्री और उसके विश्लेषण की दृष्टि से, और (3) उद्देश्य की दृष्टि से।

(1) इतिवृत्त की दृष्टि से

हिन्दी साहित्य के समस्त उपन्यासों को इतिवृत्त की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(i) ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यास (ii) काल्पनिक उपन्यास और (iii) मिश्रित उपन्यास।

(1) ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यास—वे उपन्यास जिनका इतिवृत्त इतिहास या पुराणों से लिया गया है, उन्हें हम ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यासों के वर्ग में सम्मिलित करेंगे। यहाँ हम यह देखने का प्रयास नहीं करेंगे कि उस इतिवृत्त को लेखक ने किस रूप में प्रस्तुत किया है बल्कि यह देखने का प्रयास करेंगे कि लेखक ने अपने उपन्यास में ऐतिहासिकता की सुरक्षा कहाँ तक की है। ऐतिहासिकता की सुरक्षा से मेरा तात्पर्य यह देखना है कि क्या पात्रों के नाम और उनके जीवन से जुड़ा हुआ घटनाक्रम इतिहास के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है और लेखक ने यदि घटनाक्रम में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन किया है तो उससे ऐतिहासिकता की हत्या तो नहीं हुई है, घटना-क्रम की प्रस्तुति में कहीं देश-काल का दोष तो नहीं आ गया है। उदाहरणार्थ भिन्न-भिन्न कालों से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों को कहीं एक साथ एक काल में तो नहीं रख दिया गया है। हैदराबाद के नवाब को टोंक का नवाब तो नहीं बना दिया गया है और इतिहास वर्णित निरंकुशता को सदाशयता में तो नहीं बदल दिया गया है। शेष विवरण प्रस्तुत करने में उपन्यासकार स्वतन्त्र होता है।

(ii) काल्पनिक उपन्यास—उपन्यासों का एक बहुत बड़ा वर्ग इस शीर्षक के अन्तर्गत आता है। कुछ विद्वानों का तो अभिमत ही यह है कि उपन्यास का इतिवृत्त

काल्पनिक ही होना चाहिए। शायद इसी कारण डॉ. श्यामसुन्दर दास ने उपन्यास को परिभाषित करते समय कहा है कि 'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।' दूसरे, यह भी माना जाता है कि उपन्यास के लिए आवश्यक है कि उसमें उपन्यासकार के सामयिक जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की गयी हो। इस आधार पर भी उपन्यासकार को काल्पनिक इतिवृत्त का ही आश्रय लेना होता है। यही कारण है कि विश्व के समस्त समृद्ध साहित्य में काल्पनिक उपन्यासों की ही अधिकता पायी जाती है।

(iii) मिश्रित उपन्यास—मिश्रित उपन्यास वर्ग में उन उपन्यासों को रखा जा सकता है, जिनमें ऐतिहासिक और काल्पनिक इतिवृत्त का सुन्दर-सम्मिश्रण किया गया हो। ऐसे उपन्यासों में कुछ पात्र एवं कुछ घटनाएँ ऐतिहासिक होती हैं और शेष पात्र एवं घटनाएँ काल्पनिक होती हैं। चतुर उपन्यासकार इन सबको मिलाकर इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि उनमें एकसूत्रता आ जाती है और पार्थक्य या बिखराव नहीं रह जाता है। ऐसे उपन्यास बहुत कम होते हैं।

(2) विषय सामग्री की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण

उपन्यास में वर्णित विषय-सामग्री को आधार बनाकर भी उपन्यासों को वर्गीकृत किया जा सकता है। ऐसे वर्गीकरण में यह देखा जाता है कि लेखक ने उपन्यास में किस वर्ग, समुदाय, भाव, विचार आदि को अपने विश्लेषण का विषय बनाया है। समग्र रूप में उपन्यास पाठकों के समक्ष क्या प्रस्तुत करना चाहता है। जीवन का वह कौनसा चित्र है जिसकी झाँकी प्रस्तुत करना उपन्यासकार को अभीष्ट है। इस दृष्टि से उपन्यास को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(i) सामाजिक उपन्यास, (ii) सांस्कृतिक उपन्यास, (iii) पारिवारिक उपन्यास, (iv) राजनीतिक उपन्यास (v) मनोवैज्ञानिक उपन्यास, और (vi) समस्या प्रधान उपन्यास।

(i) सामाजिक उपन्यास—सामाजिक उपन्यासों की श्रेणी में उन उपन्यासों को परिगणित किया जाता है जिनमें काल्पनिक इतिवृत्त के माध्यम से किसी समाज विशेष की स्थिति को चित्रित किया जाता है। वस्तुतः उपन्यासकार जिस समाज में रहता है, वह उस समाज की अच्छाइयों और बुराइयों से परिचित एवं प्रभावित होता है तथा उसका लेखा-जोखा अपने उपन्यासों में प्रस्तुत कर देता है। इसी लेखे-जोखे से युक्त उपन्यासों को सामाजिक उपन्यास के नाम से अभिहित किया जाता है। हिन्दी साहित्य में भारतीय समाज की शोषित नारी, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, रूढ़िवादिता, क्षेत्रीयता, जातिवाद आदि ऐसे घुण हैं, जो समस्त समाज को दुर्बल एवं निर्वीर्य बना रहे हैं। उपन्यासकार इन स्थितियों के भयानक परिणामों का अंकन कर समाज की आँखें खोलने का प्रयास करता है। आजकल की ज्वलन्त समस्या

दहेज की है। भारतीय समाज इससे ग्रस्त होता चला जा रहा है। उपन्यासकार को इसके कारणों की खोज कर उनके रहस्यों का उद्घाटन करना चाहिए। आज के युग में समाज में बढ़ती आपराधिक प्रवृत्तियों को भी उपन्यासकार को अपनी लेखनी का विषय बनाना चाहिए। मैं जहाँ तक समझता हूँ, उपन्यासकार सामाजिक उपन्यास लिख कर न केवल अपने समाज का कल्याण करता है बल्कि भावी इतिहास की रचना भी करता है। आजकल 'नशे' का एक रोग और समाज में घर करता जा रहा है। हिरोइन, स्मैक जैसे नशीले एवं बहुमूल्य पदार्थों के आविष्कार ने समाज को खोखला बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। उपन्यासों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(ii) सांस्कृतिक उपन्यास—संस्कृति किसी समाज और राष्ट्र की बहुमूल्य धरोहर होती है, उसकी सुरक्षा एवं विकास को ध्यान मे रखते हुए लिखे जाने वाले उपन्यासो को सांस्कृतिक उपन्यास कहा जाता है। संस्कृतियों का निर्माण अनेक युगो से प्राप्त संस्कारो एवं आस्थाओं के द्वारा होता है। संस्कृति वस्तुत किसी समाज और राष्ट्र का सभी विकारों एवं त्रुटियों से विरहित एक प्रकार का जीवन-दर्शन होती है। जीवन के प्रति समाज की सुसंस्कृत एव परिमार्जित विचार-धारा का नाम संस्कृति है जिसमें जन-कल्याण की भावना निहित होती है। मूलतः सभी संस्कृतियाँ अपने सामाजिक एवं भौगोलिक परिवेश मे उत्तम एवं मूल्यवान् होती हैं किन्तु उनमे अन्तर भी विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ भारतीय संस्कृति का ताल-मेल पाश्चात्य संस्कृति के साथ नही बैठ पाता। अन्तर यद्यपि दृष्टिकोण का है। संघर्ष केवल भौतिकतावाद और आध्यात्मिकतावाद का है। फलतः जब एक संस्कृति दूसरी संस्कृति पर हावी होने लगती है, तब संघर्ष, आकुलता, घुटन और तनाव का वातावरण बनने लगता है। इसी वातावरण की अभिव्यक्ति सांस्कृतिक उपन्यासो में की जाती है। अनेक बार अनेक कारणों से नव-सन्तति अपनी स्वयम् की संस्कृति के प्रति विद्रोह कर बैठती है। उसको भी लेखक अपने उपन्यास का विषय बनाकर सत्य का पता लगाने का प्रयत्न करता है।

(iii) पारिवारिक उपन्यास—ऐसे उपन्यासों में लेखक किसी परिवार को अपनी लेखनी का विषय बनाता है तथा परिवारो के रहन-सहन, पारस्परिक राग-द्वेषों एवं सम्बन्धों को लेकर उपन्यास के इतिवृत्त का विकास करना है। आज पारिवारिक सम्बन्धों में भी विकृतियाँ उत्पन्न होने लगी है क्योंकि सम्बन्धों का अवमूल्यन हो चुका है। दाम्पत्य जैसे पवित्र एवं सुदृढ़ सम्बन्ध भी विशृंखल होते जा रहे हैं। पिता-पुत्र, भाई-भाई तथा भाई-बहिन के सम्बन्धो मे भी माधुर्य का अभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होने लगा है। पारिवारिक नियमो एव नैतिकता का लगभग ह्रास हो चुका है। संयुक्त परिवार व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी है और परिवारो मे व्यक्तिवाद का बोल-बाला है। ये सब, कुछ ऐसी स्थितियाँ जिन्हें अपनाकर उपन्यासकार

अपने उपन्यास का ताना-बाना तैयार करता है। ऐसे विषयों को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यास पारिवारिक उपन्यासों की श्रेणी में परिगणित किये जाते हैं।

(iv) **राजनीतिक उपन्यास**—आजकल राजनीतिक उपन्यास अत्यधिक मात्रा में लिखे जा रहे है। यों समस्त विश्व में मानव-समुदाय पर राजनीति हावी है और राजनीतिक भ्रष्टाचार मे मानवता त्रस्त है परन्तु भारत में इस भ्रष्ट आचरण का प्राबल्य है। किस प्रकार एक सामान्य जन राजनीति मे प्रविष्ट होकर अपने आपको अधि-मानव मानने लगता है, यह तथ्य किसी से छिपा हुआ नहीं है। दलगत राजनीति, वोट की राजनीति ने किस प्रकार भारतीय समाज को पगु बना दिया है, यह एक ज्वलन्त राजनीतिक समस्या है। चुनाव पैसों और गुण्डों के बल पर लड़े जाते है। सत्ताधारी पार्टी 'देश-भक्त' और विपक्ष 'देश-द्रोही' जैसे अलंकारों से सुशोभित होने लगता है। विधायक एव सांसद अपने आपको विधि-नियमों से ऊपर मानने लगते है। सक्षेप मे अपना घर भरने के लिए ये लोग किसी भी सीमा पर जा सकते हैं। कल तक जूती चटकाने वाला व्यक्ति राजनेता होते ही लक्ष्मी का कृपा-पात्र बन जाता है आदि अनेक विडम्बनाएँ है, जिनका विवरण राजनीतिक उपन्यासो मे प्रस्तुत किया जाता है। चुनाव जीतने के लिए कैसे-कैसे हथकण्डे अपनाए जाते हैं, टिकटों के वितरण का कैसा विद्रूप आधार होता है और जनता को कैसे गुमराह किया जा रहा है आदि तथ्य चौंकाने वाले होते हैं। ऐसी स्थिति मे उपन्यासकार का उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ जाता है। उसका यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अपने उपन्यासो के माध्यम से इनका भण्डा-फोड करे। मूलतः ऐसे उपन्यास राजनीतिक विचारधाराओं के आधार पर लिखे जाते हैं। राजनीति मे आजकल कीड़े-मकोडों की तरह अनेक वाद जन्म लेते जा रहे है। इन सबकी एक ही दुर्बलता है—सत्ता सुख, चाहे वह पक्ष हो और चाहे विपक्ष।

(v) **मनोवैज्ञानिक उपन्यास**—आजकल मानव-जीवन का आकलन मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया जाता है। हम व्यक्ति के समस्त क्रिया-कलापों का मूल्याङ्कन उसके मानसिक धरातल पर विद्यमान कुण्ठाओं, ग्रन्थियों एव अवचेतन मन:स्थितियों के आधार पर करते हैं। इस प्रकार मनोविज्ञान को आधार बना कर जो उपन्यास लिखे जाते हैं, उन्हें मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा जाता है। उपन्यासकार समाज, संस्कृति, परिवार, राजनीति आदि की व्याख्या पात्र की मानसिक उथल-पुथल की व्याख्या के माध्यम से करता है। ऐसे उपन्यासों में मुख्यत. पात्र के 'अह' को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता मानव-जीवन के सचालन मे अवचेतन मन की भूमिका को बहुत अधिक महत्त्व देता है। फ्रायड तो अतृप्त काम-वासना को ही साहित्य का जनक मानता है और उसके इस सिद्धान्त ने साहित्य को और विशेषत. उपन्यास को पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित किया है। ऐसे उपन्यासो मे मनोवेगों का सूक्ष्म अंकन कर मानव मन मे उद्बुद्ध प्रतिक्रियाओं का

चित्रण किया जाता है और उसमें प्रमुखता यौन-सम्बन्धों और काम-भाव को दी जाती है। कुछ लेखकों ने मनोविश्लेषण के आधार पर मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

(vi) समस्या प्रधान उपन्यास—समस्या प्रधान उपन्यास वे उपन्यास होते हैं, जिनमें किसी सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक, आर्थिक या राजनीतिक समस्या को उठाया जाता है। पहले उसका यथार्थ-चित्रण किया जाता है और फिर उसका समाधान प्रस्तुत किया जाता है। कुछ ऐसे भी उपन्यास होते हैं, जिनमें केवल समस्या को चित्रित कर दिया जाता है, समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं किया जाता। वैसे देखा जाए तो समस्या का नाम ही जीवन है। वह जीवन भी कोई जीवन होता है, जिसमें समस्याएँ न हों। अन्तर केवल इतना है कि व्यक्ति और समाज किसी या किन्हीं समस्याओं के कारण घुटन, तनाव, पीड़ा का तो अनुभव करता रहता है किन्तु उस समस्या को चिह्नित नहीं कर पाता परन्तु पारदर्शी दृष्टि से युत साहित्यकार उस समस्या को पकड़ लेता है, पहिचान लेता है और उसके मूल में जाकर अपनी कृति के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करता है या समाधान पाठकों पर छोड़ देता है। इन आधारों पर लिखे गये उपन्यास ही समस्या प्रधान उपन्यास कहलाते हैं।

(3) उद्देश्य की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण

पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है कि उपन्यास लेखन में उपन्यासकार का निश्चित रूप से कोई न कोई उद्देश्य होता है। हम उसे लेखक का दृष्टिकोण भी कह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उपन्यासकार ने जिस विषय-सामग्री का चयन किया है, वह उसका अंकन किस रूप में करना चाहता है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि उपन्यास में विषय-सामग्री तो महत्त्वपूर्ण होती ही है किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है उसके अंकन का प्रकार। इस आधार पर हम उपन्यास को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(i) यथार्थवादी उपन्यास, (ii) आदर्शवादी उपन्यास, और (iii) आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास।

(i) यथार्थवादी उपन्यास—यथार्थवादी उपन्यास उन उपन्यासों को कहा जाता है, जिनमें लेखक जो कुछ जीवन में देखता है, अनुभव करता है या भोगता है, उसे उसी रूप में अंकित कर देता है। अपनी ओर से किसी प्रकार नमक-मिर्च नहीं लगाता। समाज में जो कुत्सित, कुरूप, घिनौना या विद्रूप है, उसे स्वच्छ, परिमार्जित रूप प्रदान न कर उसे यथा-तथ्य रूप में लेखनी का विषय बनाकर समाज को उस ओर आकृष्ट करता है तथा उस विद्रूप को देखने के लिए बाध्य करता है। यदि वास्तव में देखा जाए तो यथार्थवादी उपन्यास ही सच्चे अर्थों में उपन्यास कहलाता है। मानव-जीवन के दो रूप हैं—एक उसका आदर्श रूप, जिसे उसने ओढ़ रखा है या उसे उढ़ा दिया गया है। वह सत्य नहीं है। कृत्रिम है। एक बाल-विधवा

के जीवन के संयम, वृत्त-नियम-पालन की प्रक्रियाएँ उसकी वास्तविक जीवनचर्या नहीं है। उसके यौवन का उभार, उसमें पनपती हुई वासना की धारा और यौन-सम्बन्धों की तीव्र लालसा को नकारना मानव-जीवन के साथ अन्याय के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसी प्रकार एक श्रमिक को ईमानदार, सत्यवादी के रूप में प्रस्तुत करना भी कृत्रिमता की श्रेणी में आता है। मालिक के प्रताड़न से त्रस्त, तथा शोषण से ग्रस्त श्रमिक ठठरी मात्र अपनी सन्तान को एवं स्तनों में दूध के अभाव से फटेहाल वक्ष पर रोते हुए बच्चे को लिटाए हुए अपनी पत्नी को देखता है तो क्या उसका हृदय हाहाकार नहीं कर उठेगा। उसको अनदेखा करने वाले लेखक की कला का कोई अर्थ नहीं हो सकता। भूखों को देश-भक्ति नहीं सिखाई जा सकती। अपने स्वार्थ में लिप्त राज-नेता या अधिकाधिक धन का सग्रह करने वाले पूंजीपति अपने कुकृत्यों को छुपाने के लिए जो आदर्श का प्रवचन करते हैं, वह बेमानी है। इसीलिए यथार्थवादी उपन्यासकार उनके कुकृत्यों की बखिया उधेड़ता है और उनके कुकृत्यों के कारण सिसकती मानवता के आँसुओं की मालाएँ पिरोता है। यही यथार्थवाद है। वह समाज के सफेदपोश चोरों को समाज के न्यायालय में प्रस्तुत कर उनके दण्ड की समुचित व्यवस्था करता है। सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ परम्पराओं के विरुद्ध यथार्थवादी कलाकार एक प्रकार से विद्रोह करता है। यथार्थवादी अकन में एक बहुत बड़ा दोष है, जो खलता है। वह यह है कि ऐसे लेखक यथार्थ के नाम पर यौन-सम्बन्धों का जो घिनौना चित्र प्रस्तुत करते हैं, वह क्षम्य नहीं है। कुछ ऐसी कहानियाँ सुनने में आयी हैं, जिनमें पिता-पुत्री, माता-पुत्र या भाई-बहिन के यौन-सम्बन्धों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे यह यथार्थ हो सकता है किन्तु व्यावहारिक एवं नैतिक दृष्टि से ऐसे चित्रणों को साहित्य के साथ बलात्कार ही कहा जाएगा और ऐसे चित्रणों की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। अंग्रेजी साहित्य में ऐसे अनेक उपन्यासों का सर्जन किया गया है, जिनमें यौन-क्रियाओं का स्पष्ट एवं खुला चित्रण पाया जाता है। ऐसा चित्रण पश्चिम में चाहे यथार्थ के नाम पर संस्तुति का पात्र हो, किन्तु भारतीय जन-जीवन में वह मार्गभ्रष्ट करने वाली विधा से अधिक नहीं हो सकता। यथार्थ चित्रण के पीछे भी एक दर्शन और एक नैतिकता होती है, उसे नकारने की अनुमति देना समाज को पथच्युत करना होगा। अतः स्पष्ट है कि पश्चिम की चका-चौंध से प्रभावित लेखकों को इस प्रायद्वीप में निरुत्साहित ही करना चाहिए। यथार्थ के चित्रण से मेरा अभिप्राय त्रस्त और दलित मानवता की आर्थिक विषमताओं, सामाजिक विद्रूपताओं और धर्म और संस्कृति की आड़ में पल रहे भेड़ियों के वास्तविक रूप को प्रकाशित करने से है न कि अपनी अतृप्त वासना के विद्रूप को साकारता प्रदान करने से है।

(ii) आदर्शवादी उपन्यास—आदर्शवादी उपन्यास वे उपन्यास कहलाते हैं, जो एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जो अनुकरण का विषय बन सके। यह सच है कि समाज को ऐसे चित्रणों की भी आवश्यकता होती है क्योंकि हम जो कुछ हैं;

वह तो हैं ही किन्तु हमे क्या होना चाहिए; इसकी भी हमें आवश्यकता है और आदर्शवादी उपन्यास इसी की अभिव्यक्ति करते हैं। उनमे प्रारम्भ से ही ऐसे पात्रो की सृष्टि की जाती है, जो उदात्त जीवन-वहन करते है। चाहे कितनी ही विपत्तियाँ आएँ, संकटो का साम्मुख्य करना पड़े किन्तु वे अपने सद्‌गुणो का परित्याग नही करते। शोषित होकर भी शोषक के विरुद्ध हिंसा का आश्रय नही लेते। सुख-दु.ख को वे भाग्य का परिणाम और विधाता का नियम मान कर चलते है। आदर्श का अनुगमन जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होती है, किन्तु परेशानी यह होती है कि क्या समग्र समाज उन आदर्शो का अनुपालक बन सकेगा ? क्या आदर्शो की आड़ मे शतरञ्ज के मोहरे फिट करने वाले पूंजीपति, शासक, धार्मिक गुरू उन आदर्शों की अनुपालना करेंगे। अनेक बार ऐसा लगने लगता है कि जीवन के जिन उच्च गुणो की प्रस्तुति धर्म ग्रन्थो, विधि-नियमों में उपलब्ध होती है, वह केवल अनुहारा वर्ग के लिए होती है। उच्चवर्ग अपने आपको उनसे ऊपर मानता है क्योकि वे अपने आपको नियामक मानते हैं। ऐसी स्थिति मे आदर्श केवल पाखण्ड बन कर रह जाते है। दूसरी ओर आदर्शवाद मे व्यक्ति प्रधान होता है और समाज गौण होता है।

(iii) **आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास**—यह एक मध्यम मार्ग है। इस वर्ग मे वे उपन्यास आते है, जिनमें यथार्थ का चित्रण किया जाता है किन्तु उपन्यास का अन्त आदर्श में होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा उपन्यासकार पहले तो 'समाज में क्या घटित हो रहा है' उसका यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करता है और फिर समाज मे क्या होना चाहिए और समाज का हित कौनसी प्रक्रिया मे निहित है; उसका अकन करता है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को सुधारवाद के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है क्योंकि पहले व्यक्ति का पतन प्रस्तुत किया जाता है किन्तु अन्त मे उसे सुधार के रास्ते पर ला दिया जाता है। भ्रष्ट पात्र को अन्त में अध्यापक, साधु, या समाज सेवक के रूप मे प्रस्तुत कर उसे अपने पापो के प्रति पश्चात्ताप करता हुआ दिखाया जाता है। मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास इस क्षेत्र मे उल्लेखनीय है। यह सही है कि समाज को सम्बल प्रदान करने के लिए इस प्रकार के उपन्यास अधिक श्रेयस्कर हैं किन्तु ऐसे उपन्यासों से भी सत्य आच्छादित हो जाता है। ऐसे उपन्यास अन्याय के साम्मुख्य को प्रोत्साहित न कर जीवन से पलायन का पाठ पढ़ाने लग जाते हैं।

कहानी विवेचन

यह एक विचित्र संयोग है कि आदि काल से ही मनुष्य में कहानी कहने और कहानी सुनने की प्रवृत्ति पायी जाती है। वह कहानी चाहे कैसी ही हो। इसी प्रवृत्ति ने सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार के साथ-साथ साहित्यिक कहानी को [illegible]
दिया। मौखिक कहानियों मे चमत्कार, जादू, रहस्य आदि को महत्त्व [illegible]

था किन्तु साहित्यिक कहानियों मे मानव-जीनव की मार्मिक घटनाओं को महत्व दिया जाता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे भी कहानी कला ने अपना स्थान बना लिया था। अग्निपुराण, दण्डी, हेमचन्द्र, विश्वनाथ और अम्बिकादत्त व्यास आदि ने कथा-साहित्य के अनेक भेदो का वर्णन किया है और उनके लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं। अग्नि-पुराण के अनुसार कथा के या गद्य काव्य के पाँच भेद किये हैं—(i) कथा, (ii) खण्ड कथा, (iii) परिकथा, (iv) आख्यायिका, और (v) कथानिका। कोहला-चार्य, दण्डी, अमरसिंह, विश्वनाथ और हेमचन्द्र ने 'कथा और आख्यायिका' गद्य के इन दो भेदो पर ही अधिक बल दिया है। हेमचन्द्र ने कथा के ग्यारह भेद प्रस्तुत किये हैं; यथा—(i) उपाख्यान, (ii) आख्यानक, (iii) निदर्शन, (iv) प्रवह्लिका, (v) मन्थल्लिका, (vi) मणिकुल्या, (vii) परिकथा, (viii) खण्डकथा, (ix) सकल-कथा, (x) उपकथा, और (xi) वृहत्कथा। हेमचन्द्र ने इन भेदो के सक्षेप लक्षण भी प्रस्तुत किये है। श्री अम्बिकादत्त व्यास ने कथा के नौ भेदो का उल्लेख किया है। आपने कथा को उपन्यास का पर्याय मानते हुए इन भेदो को प्रस्तुत किया है—(i) कथा, (ii) कथानिकोपन्यास, (iii) कथानोपन्यास, (iv) आलोपोपन्यास, (v) आख्यानोपन्यास, (vi) आख्यायिकोपन्यास, (vii) खण्डकथोपन्यास, (viii) परि-कथोपन्यास, और (ix) सकीर्णोपन्यास। उक्त भेदों के नामो से प्रतीत होता है कि व्यास जी ने कथा के पुरातन भेदो के साथ उपन्यास शब्द और जोड दिया है। जहाँ तक 'कहानी' शब्द की भाषा-वैज्ञानिक व्युत्पत्ति का सम्बन्ध है, इसका विकास सस्कृत 'कथानिका' शब्द से हुआ प्रतीत होता है, जो कथा-साहित्य का एक भेद है। ध्वनि नियमो के अनुसार महाप्राण ध्वनियो को 'ह्' आदेश मे 'कथानिका' शब्द में आगत 'थ्' को 'ह्' आदेश, 'स्वर मध्यस्थ अल्पप्राण ध्वनियो का लोप' के आधार पर अन्त्य 'क' का लोप और सन्धि के नियम से उद्वृत्त स्वर का अपने पूर्व या परवर्ती स्वर के साथ सन्धि के आधार पर 'नि' की 'इ' और उद्वृत्त 'आ' के योग से 'ई' होकर 'कहानी' शब्द निष्पन्न होता है। अग्निपुराण मे कथानिका का लक्षण इस प्रकार दिया है—जिसके आदि मे भयानक रस, मध्य मे करुण रस और अन्त में अद्भुत रस होता है।' इसकी प्रकृति उदात्त न होकर संकीर्ण होती है। आज के कहानी साहित्य का जब हम इन परिप्रेक्ष्य मे अवलोकन करते हैं तो इतिवृत्त को छोड़कर दोनो मे कोई साम्य प्रतीत नही होता। अम्बिकादत्त व्यास ने 'आलाप' (सवाद) पर बल दिया है। उपर्युक्त विवरण प्रस्तुत करने का मेरा केवल इतना ही तात्पर्य है कि संस्कृत साहित्य मे कथा साहित्य का उद्गम हो चुका था। हम अपने कहानी-साहित्य का बीज प्राचीन साहित्य मे भी खोज सकते हैं।

हिन्दी मे कहानी साहित्य का उद्गम आधुनिक काल मे हुआ है। यह वह समय था, जब हम बगला साहित्य के माध्यम से और अग्रेजी साहित्य के माध्यम से

कहानी का अध्ययन एव अध्यापन कर रहे थे और [illegible] के साहित्य से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप मे प्रेरणा ग्रहण कर कलाकारों ने कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया । अतः स्वाभाविक था कि उक्त कहानी साहित्य का प्रभाव हमारे कहानी साहित्य पर भी पड़ा । मेरी समझ मे सस्कृत कथा-साहित्य और अंग्रेजी कथा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे हिन्दी-साहित्य के कलाकारो ने हिन्दी कहानियों के स्वतन्त्र-स्वरूप का निर्माण किया, जिसके माध्यम से हमने अपनी समस्याओं को प्रकाशित किया तथा उनमे अपनी सांस्कृतिक विचारधारा को सजोया । प्रेमचन्द और प्रसाद को हिन्दी कहानियो के अग्रप्रणेता के रूप मे देखा जा सकता है । आज के समय मे यदि हम देखें तो हिन्दी कहानी साहित्य ने चहुँमुखी प्रगति की है । जीवन के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न शैलियों मे कहानी कला के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने का हिन्दी कहानीकारों ने स्तुत्य प्रयास किया है ।

कहानी का स्वरूप

कहानी गद्य काव्य के एक अग, कथा-साहित्य की एक शाखा है जो अपने मे स्वत. पूर्ण है । स्थूल रूप मे हम कह सकते हैं कि कहानी उपन्यास या लघु सस्करण है । इन दोनों विधाओं मे वही अन्तर है जो महाकाव्य और खण्ड-काव्य मे है । जहाँ एक ओर उपन्यास मानव-जीवन के सम्पूर्ण को लेकर चलता है, वहाँ कहानी उसके जीवन के किसी एक मार्मिक अश या घटना को अपनी अभिव्यक्ति का विषय बनाती है और वह उस अश की ऐसी सटीक व्याख्या करती है कि उसमे पूर्णता आ जाती है । पूर्णता आ जाने के कारण ही कहानी अपने स्वतन्त्र-स्वरूप का निर्धारण कर लेती है और साहित्य की किसी भी विधा के अग रूप में नही रहती । वस्तुत कहानी जीवन के एक अश को लेकर अत्यन्त कलात्मक शैली से पाठक की उत्सुकता को जाग्रत करती हुई अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है और लक्ष्य की पूर्ति के साथ ही वह समाप्त हो जाती है । कहानी की सर्वोपरि विशेषता यह है कि वह सक्षिप्त और कम पात्रो वाली होनी चाहिए जो कुछ समय में ही समाप्त हो जाए तथा पाठक को उसी आनन्द की अनुभूति कराने मे सक्षम होनी चाहिए जिस आनन्द की अनुभूति अनेक दिनों तक पढते रहने के पश्चात् उपन्यास से प्राप्त होती है । अनेक भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो ने कहानी के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । प्रसिद्ध समालोचक बाबू श्यामसुन्दरदास कहानी को निश्चित लक्ष्य वाला नाटकीय आख्यान मानते हैं तो एच. जी. वेल्स एक घण्टे मे समाप्त हो सकने वाली कथा को कहानी कहना पसन्द करते है । सर ह्यू वाल पाल कहानी मे आकस्मिकता, क्षिप्रता, कौतूहल और चरम बिन्दु की योजना का समावेश चाहते हैं । डॉ. भागीरथ मिश्र संक्षिप्तता और पूर्णता को महत्व देते हैं तो बाबू गुलाबराय उत्थान-पतन के कौतूहल पूर्ण वर्णन को आवश्यक मानते हैं । मेरी दृष्टि मे कहानी मानव-जीवन के किसी एक मार्मिक अश की कौतूहलपूर्ण ढंग से एक दो पात्रों के माध्यम से व्यक्त की गयी भावमयी अभिव्यञ्जना है, जो स्वतःपूर्ण होती है ।

कहानी के तत्त्व

कहानी और उपन्यास के तत्त्वों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। विद्वानों ने कहानी के भी छह ही तत्त्वों का निर्धारण किया है; यथा—(i) कथावस्तु, (ii) पात्र या चरित्र-चित्रण, (iii) संवाद या कथोपकथन, (iv) देश-काल और वातावरण, (v) भाषा-शैली, और (vi) उद्देश्य। इन तत्त्वों का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन उपन्यास के प्रसंग में किया जा चुका है। अतः यहाँ कहानी में कितनी मात्रा में इनका उपयोग किया जाता है, पर ही प्रकाश डालेंगे।

जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, कहानी की कथावस्तु सरल होती है। इसमें अन्तरकथाओं या आवान्तर घटनाओं के समावेश के लिए अवकाश नहीं होता। यह अपने लक्ष्य की ओर त्वरित गति से अग्रेसर होती है। फलतः इसमें विभिन्न घटनाओं को नहीं संजोया जा सकता। शेष लक्षण उपन्यास की कथावस्तु के समान हैं।

कहानी में पात्रों की संख्या बहुत कम होती है और कथानक भी छोटा होता है। फलतः कहानी में पात्र के किन्हीं एक या दो गुणों अथवा अवगुणों को ही प्रकाश में लाया जाता है। जीवन के विभिन्न उत्थान-पतनों का दिग्दर्शन यहाँ सम्भव नहीं है।

कहानी के संवाद अत्यन्त संक्षिप्त एवं साभिप्राय होने चाहिएँ। सवादों के कारण कहानी प्राणवान् हो जाती है। अतः कहानी में सवादों की योजना अवश्य की जानी चाहिए। इनसे कहानी में नाटकीयता का समावेश भी हो जाता है।

देश-काल का कहानी में पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिए क्योंकि लघुकाय होने से आगत दोष तुरन्त दृष्टिगत होने की सम्भावना बनी रहती है। कहानी में उपन्यास जैसा वातावरण निर्माण तो सम्भव नहीं है किन्तु यथावश्यकता यथास्थान भावमय वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए। वैसे आजकल वातावरण-निर्माण को कहानी में विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता।

भाषा पात्रानुकूल भावमयी एवं सरल होनी चाहिए। लेखक को यह अभ्यास डाल लेना चाहिए कि वह छोटे-छोटे वाक्यों के माध्यम से सूक्ष्मतम विचारों एवं भावों को व्यक्त कर सके। कहानी शिक्षित एवं अल्पशिक्षित सभी के लिए लिखी जाती है। इस कारण सरल भाषा का प्रयोग सभी के लिए उपयोगी होगा,' कहानीकार को यह मान कर चलना चाहिए। शैली भावमयी एवं कौतूहलपूर्ण होनी चाहिए, जिससे पाठक के मन में यह जिज्ञासा बनी रहे कि आगे क्या होगा ?

प्रत्येक कार्य का अपना कोई न कोई उद्देश्य होता है। अतः कहानीकार को भी अपनी कहानी में किसी न किसी उद्देश्य की स्थापना करनी चाहिए। कहानीकार को कहानी में संकलन त्रय एवं एकान्विति का ध्यान रखना चाहिए।

कहानी का वर्गीकरण

कहानियों को भी उपन्यास की तरह विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता

है। कहानी के वर्गीकरण के भी वे ही आधार है, जो उपन्यास के हैं। कहानी के भी वे ही भेद या प्रकार हैं, जो उपन्यास के हैं। अतः पाठकों को उन्ही आधारों पर कहानी को वर्गीकृत कर लेना चाहिए।

गद्य-काव्य के अन्य भेद

(3) संस्मरण

भावुक कलाकार जीवन की विभिन्न वीथियों से होकर गुजरता है। उसके जीवन में अनेक प्रसंग ऐसे आते हैं जो उसके द्वारा भुलाए जाने पर भी वह उन्हे भूल नही पाता। शान्त क्षणों में बार-बार वे प्रसंग उसे कुरेदते है और वे उसके हृदय या मस्तिष्क से बाहर आना चाहते है, साकार रूप प्राप्त करना चाहते है। लेखक की थाती मानव मात्र की थाती बनना चाहती है। तब सुयोग्य लेखक अत्यन्त भावमयी शैली में स्मृति के आधार पर उसे अपनी वाणी का सम्बल प्रदान कर देता है। उसी कथन को संस्मरण कहा जाता है। संस्मरणों को दो रूपों मे देखा जा सकता है—(i) सामान्य जन अथवा घटना सम्बन्धी और (ii) महत्त्वपूर्ण लोक-नायकों अथवा विद्वानों के सान्निध्य में गृहीत प्रसंग। सस्मरण का पहला भेद शुद्ध साहित्यिक एव स्वतन्त्र विधा है। इसमें करुण प्रसगो का बाहुल्य होता है जबकि दूसरा भेद अनेक बार 'जीवनी' विधा से जा मिलता है। आजकल महापुरुषों की जीवनियाँ भी इस प्रकार के शीर्षकों मे लिखी जा रही हैं।

(4) आत्म चरित

अनेक विद्वान्, लोक-नायक, पत्रकार आदि अपने जीवन को स्वयम् अपनी लेखनी से भाषा का रूप प्रदान करने लगते हैं, तब उसे आत्म चरित के नाम से अभिहित किया जाता है। महात्मा गांधी की 'आत्म-कथा' और पण्डित जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इनकी यह विशेषता होती है कि लेखक अपने जीवन को यथातथ्य रूप मे प्रस्तुत करता है तथा अपने जीवन के अन्तरतम मे प्रविष्ट होकर उन तथ्यों का उद्घाटन करता है, जिन्होने उसके व्यक्तित्व का निर्माण किया है। आत्म-चरित न तो अपनी दुर्बलताओं को छुपाता है और न ही अपनी सबलताओ का बढा-चढा कर अकन करता है। इसमें लेखकीय ईमानदारी का बहुत अधिक महत्त्व होता है। उसी के कारण कोई आत्म-चरित पाठकों के गले का हार बन पाता है। पाठक उक्त ग्रन्थ मे लेखक की छवि को निहारता है।

(5) जीवनी

जीवनी भी साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा है। आत्म-चरित और जीवनी में यह अन्तर होता है कि आत्म चरित में लेखक स्वयम् अपने जीवन का अकन करता है जबकि जीवनी मे कोई विद्वान् किसी महापुरुष के जीवन को भाषा-निबद्ध करता है। इस विधा के लेखन मे लेखक का जीवनी-नायक के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध होता

हैं तथा उसकी समस्त दुर्बलताओं एवं सबलताओं से उसका परिचय होता है जीवनी में कल्पना का कोई स्थान नहीं होता। इस आधार से वह उपन्यास अपना पार्थक्य बनाए रखती है तो दूसरी ओर जीवनी में केवल घटनाओं व विवरण ही नहीं होता। इसमें वह इतिहास से पार्थक्य बना लेती है। जीवनी व नायक लोक-विश्रुत व्यक्ति होता है और लेखक उसकी योग्यता, आकांक्षा, प्रतिभ निपुणता, कार्य-शैली आदि का अत्यन्त प्रभावपूर्ण एवं सशक्त शैली में अंकन करत है। जीवनी-लेखक इस तथ्य को ध्यान में रखता है कि नायक के चरित्र की को आवश्यक घटना छूटने न पाए और अनावश्यक घटना का समावेश न होने पाए मेरा यह मानना है कि जीवनी में लेखक का ध्यान दो बातों पर केन्द्रित रहता है— (i) लोक-प्रसिद्धि के विधायक तत्त्वों का नायक के व्यक्तित्व में अन्वेषण औ (ii) नायक की सफलताओं एवं असफलताओं की समान रूप से उसके व्यक्तित्व ं खोज। इन दोनों के आधार पर जब लेखक साहित्यिक शैली में उन सबकी अभि व्यक्ति करता है, तब उसे जीवनी-साहित्य कहा जाता है। यदि लेखक नायक वे व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के स्थान पर सम्बद्ध घटनाओं का विवरण मात्र प्रस्तुत करता है तो वह कथन जीवनी न रह कर इतिहास बन जाएगा। लेखक को इस ओर सावधानी बरतनी चाहिए।

(6) रेखा चित्र

चित्रकला से लिया गया यह शब्द साहित्य में पर्याप्त लोक-प्रिय है। कुछ विद्वान् इस विधा को शब्द-चित्र भी कहते हैं किन्तु मेरी दृष्टि में रेखा-चित्र शब्द अधिक प्रभावी एवं प्राणवान् है। जिस प्रकार चित्रकार रंग आदि का प्रयोग किये बिना कुछ रेखाओं के आधार पर किसी के व्यक्तित्व को साकार रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार एक साहित्यिक व्यक्ति कतिपय कथनों के आधार पर किसी व्यक्तित्व को उभारता है, जिसे पाठक सरलता से चिह्नित कर लेता है कि यह अमुक व्यक्ति है। रेखा-चित्र में लेखक किसी पात्र के उन महत्त्वपूर्ण लक्षणों को उभारता है जो उसके व्यक्तित्व के विधायक तत्त्व होते हैं। उनमें अधिक नमक-मिर्च नहीं लगाया जाता है। इसमें प्रेरक तत्त्व कोई वास्तविक व्यक्ति होता है, जिसके चरित्र और व्यक्तित्व का विश्लेषण लेखक करता है। रेखा-चित्र लिखने में महादेवी वर्मा को खूब सफलता मिली है।

(7) रिपोर्ताज

यह आंग्ल भाषा से विकसित शब्द है। कुछ विद्वान् इसके लिए "सूचनिका" शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु 'रिपोर्ताज' शब्द साहित्य में अपना स्थान बना चुका है। इसके दो रूप हैं—(i) नाटकीय और (ii) गद्यात्मक। इसके नाटकीय रूप का प्रयोग आकाशवाणी पर किया जाता है जिसका परिचय दृश्य-काव्य के प्रसंग में दिया जा चुका है। गद्यात्मक रिपोर्ताज का परिचय इस प्रकार है—रिपोर्ताज गद्य काव्य

की वह विधा है, जिसमें किसी घटना अथवा दृश्य का अत्यन्त रोचक, सूक्ष्म एवं प्रभावी विवरण प्रस्तुत किया जाता है और लेखक की लेखनी का वह जौहर होता है कि सम्बद्ध दृश्य अथवा घटना हमारी आँखों के सामने साकार रूप धारण कर लेती है। दूसरी विशेषता यह है कि रिपोर्ताज की घटना अथवा दृश्य काल्पनिक न होकर सत्य पर आधृत होता है। साहित्य की इस विधा का उद्गम द्वितीय महायुद्ध के समय हुआ। महायुद्ध की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करने के लिए इस विधा का प्रयोग किया जाने लगा था। वर्णनात्मक होने के कारण यह कहानी की ओर झुकता है तो विचारबद्धता के कारण यह निबन्ध का रस भी ग्रहण करता है किन्तु फिर भी दोनों में से किसी का भी अंग न होकर यह विधा अपना स्वतन्त्र विकास कर रही है।

(8) निबन्ध

निबन्ध गद्य-काव्य की महत्त्वपूर्ण विधा है। लेखक एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के क्रिया-कलापों से प्रभावित होता है और उनके प्रति उसके मानस में या मस्तिष्क में अनेक प्रतिक्रियाएँ जन्म लेती है। जब वह उनकी अभिव्यक्ति करता है, तब निबन्ध का जन्म होता है। 'निबन्ध' शब्द 'बन्ध' शब्द से पूर्व 'नि' उपसर्ग लगाकर व्युत्पन्न किया जाता है जिसका अर्थ होता है निश्चितता के आधार पर विचारो या भावों को बाँधना। जैसा कि मैंने प्रारम्भ मे कहा है कि सहृदय लेखक के मन मे या मस्तिष्क मे सामाजिक कार्य-कलापों के कारण कुछ तदनुकूल या प्रतिकूल धारणाएँ उद्भुत होती है। लेखक उन धारणाओं के क्रमबद्ध रूप को भाषा में बाँध देता है। वे उसके अपने विचार या भाव होते हैं, जो उसकी व्यक्तिगत रुचि या अरुचि के परिचायक होते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में निबन्ध और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं क्योंकि आज का मानव केवल भावना के आश्रय में ही नही रह सकता। वह तर्क-वितर्क के माध्यम से वस्तु की तह तक पहुँचना चाहता है। मानव की इस नवजात प्रवृत्ति ने निबन्ध के महत्त्व को बढ़ा दिया है।

निबन्ध के उपर्युक्त आकलन मे दो बातें स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है। एक तो यह कि निबन्ध में विचारों या भावों का क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत किया जाता है और दूसरी यह कि वे लेखक के अपने विचार या भाव होते हैं। अतः स्पष्ट है कि निबन्ध विधा मे विचारों या भावो का तारतम्य तथा लेखक की वैयक्तिकता की छाप अपेक्षित है। निबन्ध केवल साहित्यिक ही हो, यह आवश्यक नही है। वाङ्मय के किसी भी अंग पर व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने का अधिकार है। फलतः यह समस्या आती है कि आजकल राजनीति, आर्थिक व्यवस्था या ऐसे ही अन्य विषयो को लेकर जो बड़ी संख्या में निबन्ध लिखे जा रहे है, क्या वे सब निबन्ध-काव्य के अन्तर्गत परिगणित किये जाएँगे। उत्तर होगा—नहीं। यद्यपि विचारात्मकता निबन्ध की एक बहुत बड़ी विशेषता है किन्तु उसकी अभिव्यञ्जना का कलात्मक

होना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ दर्शन ग्रन्थों के आधार पर उसी शैली में किया गया प्रवृत्तियों एवं मनोवेगों का विश्लेषण निबन्ध-काव्य के अन्तर्गत नहीं आएगा जबकि आचार्य शुक्ल के चिन्तामणि ग्रन्थ मे सकलित मनोवेगो का विश्लेषण करने वाले निबन्ध हिन्दी-काव्य की अक्षय-निधि है। निबन्ध की तीसरी विशेषता है भाषा-सौष्ठव। लेखक का भाषा पर अभूतपूर्व अधिकार होना अपेक्षित है क्योंकि सूक्ष्म विचारो और भावों को गद्य में व्यक्त करने के लिए सूक्ष्मार्थ व्यञ्जिका शब्दावली और उसका उपयुक्त प्रयोग ही लेखक के लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है। चौथी विशेषता यह है कि लेखक जिस विषय को लेकर अपने विचार प्रकट करना चाहता है, उसका अत्यन्त सूक्ष्म-ज्ञान उसे होना चाहिए अन्यथा निबन्ध एक वाग्जाल मात्र बन कर रह जाएगा। पाँचवे, निबन्ध मे आदि, मध्य और अवसान की स्थापना की जानी चाहिए और अवसान मे लेखक को एतत्सम्बन्धी निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहिए।

निबन्ध का वर्गीकरण—आज के वैज्ञानिक युग मे विषय-वस्तु का इतना विस्तार हो चुका है कि वे सब निबन्ध के स्वतन्त्र विषय बन सकते हैं। दूसरे, विचार व्यक्त करने की शैलियों का विकास भी त्वरित गति से हो रहा है। परिणाम-स्वरूप निबन्ध के भी अनेक भेदोपभेद सम्भव हैं। हम इस विस्तार मे न जाकर निबन्ध को केवल अभिव्यक्ति के आधार पर ही वर्गीकृत करने का प्रयास करेंगे। इस दृष्टि से निबन्ध को चार प्रमुख वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—(i) विवरणात्मक निबन्ध, (ii) वर्णनात्मक निबन्ध, (iii) भावात्मक निबन्ध, और (iv) विचारात्मक निबन्ध।

(i) विवरणात्मक निबन्ध—विवरणात्मक निबन्ध वे निबन्ध होते है, जिनमें विषय-वस्तु का विवरण मात्र प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे निबन्ध काल-सापेक्ष होते है। भाषा कवित्वपूर्ण एवं शैली भावमयी होती है।

(ii) वर्णनात्मक निबन्ध—वर्णनात्मक निबन्ध वे निबन्ध होते है, जिनमें किसी घटना, दृश्य, व्यक्ति आदि का समास या व्यास शैली मे भावपूर्ण वर्णन किया जाता है। इसके लिए यह अपेक्षित है कि उनका वर्णन मनोहारी एवं रोचक हो।

(iii) भावात्मक निबन्ध—भावात्मक निबन्धों मे लेखक-विषय-वस्तु का उस पर पड़े प्रभाव का भावात्मक चित्र प्रस्तुत होता है। ऐसे निबन्धो मे विषय-वस्तु गौण और लेखक के भाव प्रधान हो जाते हैं। लेखक विषय-वस्तु को भूल कर अपने प्रभावों को भावमयी शैली मे प्रकट करने लग जाता है। ऐसे निबन्धों मे रस और भावों की व्यञ्जना मुख्य रूप मे परिलक्षित होती है।

(iv) विचारात्मक निबन्ध—विचारात्मक निबन्ध सर्वोत्तम निबन्ध माने जाते हैं। ऐसे निबन्धों में लेखक का चिन्तन प्रधान होता है और उसके विचार सुलझे हुए होते है। ऐसे निबन्धों मे क्रमबद्धता का ध्यान रखा जाता है तथा तर्क एवं विवेचन का आश्रय लिया जाता है। भाषा परिमार्जित एवं सूक्ष्म होती है तथा ऐसे निबन्धों मे समास शैली का प्रयोग किया जाता है। ऐसे निबन्धो मे काव्य के बुद्धितत्व की प्रधानता रहती है तथा अन्य दो तत्त्व गौण रहते है।

आलोचना का स्वरूप, विकास एवं प्रकार

आलोचना का अर्थ एवं स्वरूप

आलोचना—व्युत्पत्तिपरक अर्थ

'आ' उपसर्ग पूर्व 'लोच्' दर्शने' धातु के साथ 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से 'आलोचन' एवं 'टाप्' (स्त्रीलिङ्ग) प्रत्यय के लगने से 'आलोचना' शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है :—किसी वस्तु को चारो ओर से देखना या विचार करना। व्यावहारिक रूप मे हम कह सकते है कि किसी वस्तु या विधा पर किसी या किन्ही आधारों पर विचार करना या परीक्षण करना आलोचना है। कोई भी वस्तु विधा या व्यक्ति जब हमारे समक्ष समुपस्थित होता है तो हमारे मस्तिष्क मे उसके प्रति एक भौतिक प्रतिक्रिया होती है और कुछ क्षण मे उस वस्तु, विधा या व्यक्ति के सम्बन्ध मे कुछ धारणाएँ जन्म ले लेती हैं। वे धारणाएँ ही हमे उन वस्तुओं के सम्बन्ध में एक निश्चित दृष्टि प्रदान कर देती हैं। वस्तुत इस दृष्टि का नाम ही आलोचना है।

आलोचना का स्वरूप

संस्कृत साहित्य में साहित्यिक मूल्याङ्कन के लिए आलोचना शब्द का प्रयोग नही किया गया। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने मुख्यत. काव्य का आकलन उसकी 'आत्मा' को लेकर ही किया है। यह असंदिग्ध है कि संस्कृत काव्य-शास्त्रियो ने काव्य के विभिन्न पक्षों का जितना गम्भीर एवं सूक्ष्म आलोडन-विलोडन किया है, वह स्तुत्य ही नही अपितु हमारा मार्ग-दर्शक भी है, किन्तु उनकी दृष्टि सदैव काव्य की आत्मा के अनुसन्धान पर ही रही है। अपने पक्ष की स्थापना और अन्य पक्ष के निरस्तीकरण के कारण काव्य के विभिन्न पक्ष प्रकाश मे आये जो साहित्य की अमूल्य निधि बन गये। इस क्रिया-प्रतिक्रिया मे साहित्य-मनीषियों ने रस-सिद्धान्त जैसे, नवनीत को अन्ततोगत्वा प्राप्त कर ही लिया, किन्तु हिन्दी साहित्य में आलोचना शीर्षक के अन्तर्गत साहित्यिक विधाओं का जिस रूप मे जिस प्रकार विवेचन किया जाता है, वह रूप और प्रकार संस्कृत साहित्य शास्त्रियों को ज्ञात नही था। हाँ ! ऐतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत यदि हम अनुसन्धान करें तो उत्तरकालीन संस्कृत काव्य-शास्त्री सूत्र-शैली में इस प्रकार की आलोचना का बीज-वपन कर चुके थे, यह तथ्य असंदिग्ध है। उदाहरणार्थ कालिदास के सम्बन्ध मे काव्य-शास्त्रियों की यह टिप्पणी—

पुरा कवीनाम् गणना-प्रसंगे, कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्य-कवेरभावात्, अनामिका सार्थवती बभूव ॥

अर्थात् '—प्राचीन समय में कवियों की गणना करने के प्रसंग में कालिदास को कनिष्ठिका (चिटली अंगुली) अंगुली पर स्थापित किया गया किन्तु आज भी कालिदास के बराबर अन्य कवि न होने के कारण कनिष्ठिका अंगुली से अगली अंगुली अनामिका (बिना नाम की) का नाम सार्थक हो गया क्योंकि आज तक उस अंगुली पर किसी कवि को अधिष्ठित नहीं किया जा सका और वह बिना नाम की ही रह गयी।

इसी प्रकार 'उपमा कालिदासस्य' 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः' आदि इन सूक्तियों को सरलता से प्रभावात्मक एवं तुलनात्मक आलोचना-रूपों के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसी प्रकार की अन्य सूक्तियाँ भी संस्कृत काव्य-शास्त्र में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है, जो हिन्दी आलोचना की विभिन्न पद्धतियों की आधारभूत हो सकती हैं, परन्तु स्वयम् संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने भी विकास के इस रूप की, जो आज हिन्दी मे प्रचलित है, कल्पना नही की होगी।

उपर्युक्त समस्त आकलन से मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि 'आलोचना' शब्द तत्सम होते हुए भी संस्कृत काव्य-शास्त्र से उसके स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

वस्तुत साहित्य के क्षेत्र में 'आलोचना' 'समीक्षा' जैसे शब्दों का प्रचलन हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल मे हुआ, जो आंग्ल भाषा के 'क्रिटीसिज्म' (criticism) शब्द के हिन्दी अनुवाद के रूप मे आया और अतिशीघ्र ही लोकप्रिय हो गया, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि हिन्दी आलोचना का स्वरूप हूबहू वैसा ही है, जैसा अंग्रेजी 'क्रिटीसिज्म' का है। हाँ ! इस तथ्य को भी नकारा नही जा सकता कि उसका अर्थात् अंग्रेजी क्रिटीसिज्म का हिन्दी आलोचना पर गहरा प्रभाव है। हमने साहित्यालोचन में उन पद्धतियों को निस्संकोच स्वीकार किया है, जो *अंग्रेजी साहित्य में बहुत पहले ही प्रचलित हो चुकी थीं; यथा:—अस्तित्ववादी* आलोचना, मार्क्सवादी आलोचना आदि।

अधुना वैज्ञानिक उन्नति के कारण विश्व के सिमटने से एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के बहुत समीप आ गया है। एक राष्ट्र में घटित होने वाली घटना या कोई साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक परिवर्तन अन्य राष्ट्रों को तुरन्त प्रभावित करता है। आज के यान्त्रिक युग की यह सर्वोपरि उपलब्धि है। यही कारण है कि फ्रांस से उद्भूत अस्तित्ववाद, रूस में पनपा मार्क्सवाद, इटली में जन्मा अभिव्यञ्जनावाद आज समस्त विश्व के साहित्य को अभिभूत किये हुए हैं।

अंग्रेजी शब्द क्रिटिसिज्म (criticism) की व्युत्पत्ति क्रिटीज (krites) मूल धातु से हुई है। इस धातु का अनेक अर्थों मे प्रयोग होता है; यथा:—निर्णय करना, [illegible] करना, सौन्दर्य का मूल्याङ्कन करना आदि। इससे स्पष्ट है कि

'क्रिटिसिज्म के प्रतिनिधि के रूप में हिन्दी के आलोचना' शब्द की निर्मिति अत्यन्त मंगल एवं समीचीन है। यह सही है कि 'आलोचना' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ में 'छिद्रान्वेषण' जैसा कोई भाव नहीं है किन्तु प्रयोग मे प्राय देखा जाता है। सामान्य जीवन मे आलोचना शब्द का इस अर्थ मे भी प्रयोग कर लिया जाता है, यथा—'विपक्ष ने सत्तारूढ़ दल की जम कर आलोचना की।' इस वाक्य मे छिद्रान्वेषण, दोष दर्शन या कमियों के दिग्दर्शन की ही ध्वनि निकलती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोचना एवं क्रिटिसिज्म में भाषा-भेद के अतिरिक्त कोई मूलभूत अन्तर नहीं है।

किसी भी विधा के स्वरूप-निदर्शन मे उसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ के साथ-साथ उसके पारिभाषिक अर्थ का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। जब हम 'आलोचना' शब्द को उसके पारिभाषिक अर्थ के सन्दर्भ में देखते हैं तो प्रतीत होता कि 'आलोचना' साहित्य की वह विधा है, जो कलाकार की सृष्टि में निहित रहस्य को सर्वजन हिताय, साकार रूप प्रदान करती है। आलोचक किसी कृति को हृदयंगम करता है, उसके रस-प्रवाह में अपने को निमग्न कर देता है और फिर उसकी विशेषताओं पर विचार करता हुआ उसकी उपलब्धियो एवं कमियों का खाका खींचता है। इतना ही नहीं अपितु कृतियों को श्रेणीबद्ध करना, लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर लक्षणों की स्थापना करना तथा फिर उन लक्षणों के आधार पर किसी कृति का मूल्याङ्कन करना एवं उस पर अपना निर्णय देना या अन्य कृतियो को उसके समकक्ष रख कर तुलनात्मक अध्ययन करना आदि समस्त स्थितियाँ आलोचना के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत ही आती हैं। आजकल आलोचना का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है। आज का पाठक केवल इतने मे ही सन्तुष्ट नहीं होता कि किसी कृति के अध्ययन के पश्चात् वह कौन-सी रस-धारा में निमग्न हुआ, बल्कि उसकी दृष्टि कृति के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर भी टिकती है। वास्तविकता यह है कि सहृदय सामाजिक काव्य-कृति में जीवन के उन समस्त उत्थान-पतनों की सटीक झाँकी पा लेना चाहता है, जिसे उसने स्वयम् भोगा है या अन्य लोग जिसे भोग रहे हैं। इतना ही नहीं वह उसे भी जान लेना चाहता है, जिसे वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य के परिणामस्वरूप वह भोग सकता है। कवि या कलाकार ने, बहुत सम्भव है सहृदय-सामाजिक की इन समस्त क्षुधाओं को परितृप्त करने का प्रयास अपनी कृति में किया हो, किन्तु सभी लोग उसका अनुसन्धान कर सकें, यह आवश्यक नहीं है। फलत, कवि-कर्म की उन समस्त उपलब्धियों को प्रकाश में लाना ही आलोचना का कार्य-क्षेत्र है। वस्तुतः किसी कृति के गुण-दोषों को प्रकाश में लाना ही आलोचना नहीं है, बल्कि सामाजिक एवं कला के परिप्रेक्ष्य मे कवि-कर्म की व्याख्या करना और उसे चर्वण योग्य बनाना ही आलोचक का कर्म है और यही वस्तुतः आलोचना, समालोचना या सत्समालोचना

है । कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि किसी कृति के प्रति किसी आलोचक की सामान्य टिप्पणी या कथन आलोचना है और उसका विस्तृत आख्यान या व्याख्या ही समालोचना है । इसे यों भी कहा जा सकता है कि किसी कृति की विस्तृत, सोदाहरण एवं भावमयी निष्पक्ष व्याख्या या विश्लेषण ही उस कृति की समालोचना है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आलोचना एक सामान्य कथन है तो समालोचना और सत्समालोचना उसके (आलोचना के) दोष रहित गुणयुक्त, अधिक परिष्कृत एवं प्राञ्जल रूप हैं । इनमें कोई तात्विक अन्तर न होकर केवल परिष्कार और प्राञ्जलता का ही अन्तर है ।

पाश्चात्य समालोचकों के अनुसार 'आलोचना कवि कर्म के सम्बन्ध में कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापना करना है ।'[1] इसी प्रकार मैथ्यूआर्नल्ड ने भी आलोचना को स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'जो उत्तम बातें जान ली गयी है, उनको स्वयं ग्रहण करना और शेष संसार को जताना तथा इस प्रकार अपने क्रम में सच्चे और अभिनत विचारों के प्रवाह को उत्पन्न कर देना ही आलोचना है ।[2] भारतीय मनीषी आचार्य राजशेखर ने भी लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये है । संस्कृत साहित्य में आलोचक को भावक की संज्ञा से अभिहित किया गया है । अतः राजशेखर भावक की भावयित्री प्रतिभा का आख्यान करते हुए लिखते है कि 'भावक ही कवि के परिश्रम और उद्देश्य का भावन करता है अर्थात् उसे प्रकाश मे लाता है । भावक के कारण ही कवि के व्यापार का वृक्ष फलता है, अन्यथा वह निष्फल ही रहता है; यथा —'सा च कवे. श्रममभिप्रायं च भावयति तया खलु फलित' कवेर्व्यापार तरुः अन्यथा सोऽवकेशी स्यात् ।।'

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजशेखर कुछ सीमा तक आलोचना को कवि-व्यापार से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है, क्योंकि आलोचना के बिना तो कवि-व्यापार के निष्फल हो जाने की सम्भावना बनी रहती है । डॉ० नगेन्द्र ने इसी विचारधारा को सन्तुलित करते हुए कवि-कर्म और आलोचना को समान स्तर पर प्रतिष्ठित किया है । आपके अनुसार कवि और आलोचक दोनों ही स्रष्टा हैं । आगे कहते हैं 'उसकी भूमिका कही अधिक सर्जनात्मक होती है । वह कवि या कथाकार की कोटि का सर्जक नही है, किन्तु उसका कर्म भी अपने ढंग से सर्जनात्मक है, इससे इन्कार नही किया जा सकता ।'

---

(1) Criticism is the exercise of judgment in the Province of art and literature —W.B. Worsfold

(2) Simply to know the best that is known & thought is the world and by in its turn making this known, to creat a current of true and fresh ideas. —Mathew Arnold

उपर्युक्त समस्त प्राकलन को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि सर्जनशील कलाकार की सृष्टि का पुन सर्जन कर स्वयं भावित होते हुए शेष सहृदय सामाजिकों के लिए उसे भावन करने योग्य बना देना ही आलोचक का कार्य है और यही आलोचना का स्वरूप है।

(2) आलोचक और कवि

इस सन्दर्भ में 'कवि' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ मे समझा जाना चाहिए अर्थात् सर्जनशील कलाकार। इसके अन्तर्गत कवि, कथाकार, निबन्धकार आदि सभी सर्जक मनीषी परिगणित किये जा सकते हैं। इस उपशीर्षक के अन्तर्गत इसी अर्थ में कवि शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रसङ्ग मे दो अभिमत मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। प्रथम मत के अनुसार 'आलोचक की स्थिति एक बिचोलिये' जैसी है, जो साहित्यकार और सहृदय सामाजिक के मध्य की भूमिका का निर्वाह करता है। व्यावहारिक जीवन से स्पष्ट है कि उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मे बिचोलियों अथवा अभिकर्ताओं की भूमिका उपभोक्ता के लिए हानिप्रद अधिक और लाभदायक कम होती है। अत. आलोचना जैसी किसी विधा या आलोचक जैसे किसी व्यक्ति की कला के क्षेत्र मे कोई आवश्यकता नहीं है।

दूसरे अभिमत के अनुसार आलोचक की स्थिति सामान्य जीवन की तरह एक अभिकर्ता जैसी नही होती, अपितु वह भी सर्जनशील साहित्यकार की भांति एक सर्जनशील व्यक्तित्व ही होता है। अतः वह कवि या कथाकार के समकक्ष ही है। अन्तर केवल साधन का है। साध्य दोनों के ही समान होते है।

डॉ. नगेन्द्र ने प्रथम अभिमत का खण्डन किया है। आपके अनुसार पहले तो यह है कि आलोचक अभिकर्त्ता नही है। यदि यह मान भी लिया जाये कि वह अभिकर्त्ता जैसा ही है तो 'अर्थ विधान के अन्तर्गत अभिकर्त्ता का महत्त्व भी कम नहीं है। वह निर्माता के समकक्ष नही है, यह ठीक है, परन्तु निर्माता उस पर काफी हद तक निर्भर करता है, यह भी उतना ही सत्य है।' इस प्रसङ्ग में स्पष्ट प्रतीत होता है कि डाक्टर साहब की दृष्टि एकाङ्गी रही है। उनकी दृष्टि निर्माता पर रही है न कि उपभोक्ता पर। अभिकर्त्ता का लक्ष्य निर्माता के उत्पाद को बाजार मे लाना होता है। 'उत्पाद अच्छा है या बुरा' यह उसका प्रमुख लक्ष्य नही होता। उसका प्रमुख लक्ष्य होता है निर्माता के उत्पाद की खपत बाजार मे किसी भी प्रकार से बढ़ायी जाए। उपभोक्ता उस से कहां तक लाभान्वित होता है। इससे उसका कोई सरोकार नही होता। यह दूसरी बात है कि समयावधि मे बुरे उत्पाद की खपत मण्डी में स्वतः समाप्त हो जाती है, किन्तु इस समाप्ति मे अभिकर्त्ता का कोई हाथ नही होता, बल्कि उस के लिए तो यह प्रक्रिया घातक ही सिद्ध होती है। शायद इसी दृष्टि से प्रभावित होकर डाक्टर साहब स्पष्ट कर देते है कि अ=

हुए भी 'आलोचक अभिकर्त्ता नही है।' इस पर प्रश्न उठता है कि तो फिर 'आलोचक क्या है ? यहाँ पर यदि स्थूल रूप से देखा जाए तो आलोचक की भूमिका एक अभिकर्त्ता से अधिक प्रतीत नही होती, क्योंकि वह निर्माता कवि या कथाकार की कृतियों का प्रचार एव प्रसार ही तो करता है कि अमुक कृति किस स्तर की और कैसी है। यही अभिकर्त्ता भी करता है, किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो सारी स्थिति स्पष्ट हो जाएगी कि आलोचक अभिकर्त्ता नही है। पहली बात तो यह है कि अभिकर्त्ता की नियुक्ति निर्माता करता है और उस में आर्थिक लाभ सन्निहित रहता है। दूसरे अभिकर्त्ता सदैव निर्माता से अनुबन्धित रहता है कि वह निर्माता के उत्पाद की मण्डी मे अधिक से अधिक खपत बढाए और अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करे उत्पाद का स्तर चाहे कैसा ही हो। वह उत्पाद के अच्छे-बुरे के लिए निर्माता को कह तो सकता है किन्तु उसमे हस्तक्षेप नही कर सकता। तीसरे, निर्माता को अभिकर्त्ता की खोज करनी पडती है और उसका अभिकर्तृत्व निर्माता की दया पर निर्भर करता है। उक्त समस्त दृष्टियो से यदि हम आकलन करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि आलोचक अभिकर्त्ता तो नही है, क्योंकि उसे उपरिकथित किसी भी स्थिति से नही गुजरना पडता। अनेक बार तो ऐसा होता है कि आलोचक जिस कृति को अपनी लेखनी का विषय बनाता है उसका लेखक (निर्माता) इस संसार मे होता ही नही। 'सूर, तुलसी एवं जायसी' की कृतियो और आचार्य शुक्ल द्वारा उनकी की गयी आलोचनाओ के सन्दर्भ मे इसे देखा जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम मत के अनुयायी जब आलोचक को एक अभिकर्त्ता या विचोलिये की सज्ञा से अभिहित करते हैं, तब उनकी दृष्टि कुण्ठित रहती है। उनके सामने दो पक्ष रहते है—(1) कवि और (2) सहृदय सामाजिक। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि आलोचक कवि के पक्ष को सहृदय सामाजिको के लिए प्रस्तुत कर रहा है। अतः वह केवल एक अभिकर्त्ता की भूमिका का ही निर्वाह करता है, किन्तु बात ऐसी है नही। जब कोई आलोचक किसी कृति का आकलन, विश्लेषण या मूल्याकन करने बैठता है, तब उसकी दृष्टि न तो कवि या कृतिकार पर रहती है और न ही सहृदय पाठको पर, बल्कि उसकी दृष्टि उस कृति के गुण-दोषों, सामाजिक परिप्रेक्ष्य, राजनैतिक प्रभाव, मनोवैज्ञानिक आधार आदि अनेक पहलुओ पर रहती है। इस पर भी आलोचक आलोच्य कृति मे अवगाहन करता हुआ उस में अपने आपको निमग्न कर देता है। उस स्थिति मे उसे जो कुछ सारतत्त्व प्राप्त होता है, उसे वह प्रकाशित कर देता है। ऐसा करने में उसे एक विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है। सत्य तो यह है कि ऐसा करते समय उसकी भी वही स्थिति होती है, जो काव्य रचना करते समय एक भावुक कवि की होती है। इस प्रसङ्ग मे यदि मैं एक कदम और आगे बढ़ूँ तो प्रथम अभिमतवालो के स्वर मे स्वर मिला कर कह सकता हूँ कि कवि भी एक अभिकर्त्ता से अधिक नही है,

क्योंकि वह भी परमात्मा और शेष संसार के मध्य बिचोलिये की भूमिका का ही निर्वाह करता है। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो सम्भवत. काव्य के बहिष्कार की बात इसी आधार पर कहते थे कि कविता प्रकृति का अनुकरण है। इसका खण्डन आगे चल कर उनके शिष्य अरस्तू ने किया। अरस्तू इस बात को तो स्वीकार करते हैं कि कविता प्रकृति की अनुकृति है किन्तु उनका कथन है कि कविता अनुकृति होते हुए भी अपने आप मे एक पूर्ण सृष्टि है। अत. वह काम्य है। वैदिक साहित्य की यह उक्ति 'कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भू.' भी इसी तथ्य की ओर इंगित करती है। अतः स्पष्ट है कि न कवि ही अभिकर्त्ता है और न ही आलोचक। दोनों के अपने-अपने कर्मक्षेत्र हैं और अपने-अपने उपकरण एवं साधन, किन्तु दोनों ही सर्जक हैं।

जहाँ तक दूसरे अभिमत का प्रश्न है वह वस्तु-स्थिति के अधिक समीप है। वस्तुतः काव्य जीवन की व्याख्या है। जीवन' प्रकृति प्रदत्त प्रक्रिया है। कवि उस जीवन के उत्थान-पतन मे अपने को निमग्न कर देता है। उसके साथ ऐकात्म्य का अनुभव करता है और फिर एक नवीन काव्यमयी सृष्टि का सर्जन कर देता है। वह सृष्टि अत्यन्त मनोहारी एव आकर्षक होती है। सौन्दर्य उसका प्राण होता है। सहृदय सामाजिक सौन्दर्य की उस डोरी से बँध जाता है और काव्यकृति की ओर खिचता चला जाता है। वह उसमे अवगाहन करता हुआ एक विशिष्ट आनन्द का अनुभव करता है किन्तु वह उसमे परिव्याप्त उस आनन्द को प्रकाशित या अभिव्यक्त नहीं कर पाता। ठीक इस अवसर पर इन में कुछ ऐसे भावुक रसग्राही पाठक भी होते हैं, जो उस सौन्दर्य के सूक्ष्म तन्तुओ की पहिचान कर लेते हैं और उसे शेष जगत् के लिए प्रकाशित कर देते हैं। उसे ही जन-जीवन की परिभाषा मे आलोचक कहा जाता है। यह स्थिति ठीक वैसी ही होती है जैसी कवि, कथाकार या नाटककार आदि की होती है। जीवन-सौन्दर्य मे अवगाहन तो सभी करते हैं उससे आनन्द-लाभ भी करते है, किन्तु उस सौन्दर्य के सर्जन की क्षमता उनमें नही होती। यह क्षमता सर्जनशील साहित्यकार मे ही होती है। उदाहरणार्थ छोटे बच्चों की तुतली बातें एवं बालक्रीड़ाएं आनन्दनिमग्न तो सभी को करती हैं किन्तु उनकी काव्यात्मक सृष्टि करने की क्षमता तो सूरदास मे ही थी। ठीक इसी प्रकार सूरदास के पदो मे आनन्द की अनुभूति तो समस्त सहृदयजनों को होती है किन्तु उस अनुभूति की सृष्टि करने का श्रेय तो आचार्य शुक्ल को ही जाता है। ऐसी स्थिति मे आचार्य शुक्ल भी हमारे समक्ष एक सर्जक के रूप मे ही आते हैं, न कि सूरदास के अभिकर्त्ता के रूप में।

यह मान लेने के पश्चात् कि कवि और आलोचक अपने-अपने क्षत्र में स्रष्टा हैं, फिर भी दोनों को समान स्तर पर नहीं रखा जा सकता, क्योंकि एक तो दोनो के कर्म-क्षेत्रो में भिन्नता है एक का कर्मक्षेत्र जीवन है और दूसरे का कर्मक्षत्र है साहित्य। दूसरे दोनों की सृष्टि में अन्तर है। एक जीवन का पुनः सर्जन करता है तो दूसरा

पुन सर्जन का पुन सर्जन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन का सर्जन विधाता करता है। अत समग्र जीवन विधाता की एक सृष्टि है। कवि उसी सृष्टि का पुन. सर्जन करता है, जिसे हम कवि की काव्यमयी सृष्टि कह सकते हैं। अब बारी आती है आलोचक की। वह अपनी आलोचना मे कवि की काव्यमयी सृष्टि का पुन सर्जन करता है और इस प्रकार एक नयी सृष्टि का निर्माता कहलाता है। उक्त तीनों ही सृष्टियाँ समान होते हुए भी भिन्न-भिन्न होती हैं, किन्तु अपने आप मे पूर्ण होती है। इस प्रसङ्ग में इस अन्तर को स्पष्ट करना ही हमारा अभीष्ट है। इस अन्तर को समझने के लिए हमें 'सर्जन' शब्द के अर्थ को समझना होगा। सर्जन का अर्थ होता है किसी भाव को साकार रूप प्रदान करना अर्थात् सर्जन का परिणाम पदार्थ होता है और पुन सर्जन का परिणाम होता है बिम्ब। निष्कर्षत: हम कह सकते है कि कवि का प्रमुख लक्ष्य होता है जीवन का बिम्ब प्रस्तुत करना। इस प्रकार पुन सर्जन के पुन· सर्जन का परिणाम होगा बिम्ब का बिम्ब प्रस्तुत करना अर्थात् प्रतिबिम्ब की सृष्टि करना। इससे स्वत. सिद्ध हो जाता है कि आलोचक का कर्म कवि-व्यापार की तुलना मे कम सर्जनात्मक होता है। ठीक इसी प्रकार, जिस प्रकार बिम्ब की तुलना मे प्रतिबिम्ब।

कवि और आलोचक मे दूसरा अन्तर यह रहता है कि कवि कर्म मे भावना या राग तत्त्व का प्राधान्य रहता है, जबकि आलोचक के कर्म मे बुद्धि तत्त्व का प्राधान्य होता है। कवि कर्म कल्पनामूलक होता है जबकि आलोचक का कर्म विश्लेषणात्मक। कवि बुद्धि तत्त्व का इतना ही उपयोग करता है कि वह रागतत्त्व को कोरी भावुकता अथवा पाखण्ड बनने से बचा सके तो आलोचक रागतत्त्व को कविसंसृष्ट भावना की व्याख्या और उसके मूल्याङ्कन के समय काम मे लेता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि और आलोचक काव्य के तीनों तत्त्वो—रागतत्त्व, बुद्धि तत्त्व और कल्पना तत्त्व का अपनी रचनाओ में सम्यक् सन्निवेश तो करते है किन्तु प्रधानता मे दोनो ही पृथक्-पृथक् तत्त्वो का चयन करते है।

इस सन्दर्भ मे इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि कवि कर्म मे राग की प्रधानता होते हुए भी वह मात्र भावुकता का अभिनिवेश या कल्पना का क्रीड़ा-स्थल नहीं होता और ठीक उसी प्रकार आलोचक के कर्म में बुद्धि का प्राधान्य होने हुए भी वह बुद्धि-विलास नहीं होता।

(3) आलोचना विज्ञान है अथवा कला

आजकल प्राय. सभी विधाओं के अध्ययन के समय यह प्रश्न उठाया जाता है कि अमुक विधा विज्ञान है अथवा कला। आलोचना शास्त्र भी इससे अस्पृष्ट नहीं है। अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न को उठाया है और अपने निष्कर्ष मे कहा है कि आलोचना विज्ञान तो नहीं है, किन्तु इसका झुकाव विज्ञान की ओर अधिक है। वस्तुत. किसी भी विधा को येन-केन प्रकारेण विज्ञान के साथ जोड़ देने का एक

फैशन सा ही चल पड़ा है। मुझे भय है कि कहीं एक दिन हम कला को भी विज्ञान के चौगटे में फिट न कर बैठें। खैर! प्रस्तुत प्रसङ्ग में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि जब हम आलोचना को एक सृष्टि के रूप में देखते हुए उसे कला का एक अविभाज्य अंग मान लेते हैं, तब इस प्रश्न के लिए गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है कि आलोचना विज्ञान है अथवा कला। इस पर भी यह प्रश्न उठाया जाता है। वास्तविकता यह है कि जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तब हमारे उपचेतन मन में विज्ञान नहीं बल्कि वैज्ञानिक पद्धति रहती है किन्तु हम उस अन्तर को समझ नहीं पाते और वैज्ञानिक पद्धति के स्थान पर विज्ञान शब्द का भ्रामक प्रयोग कर बैठते हैं।

उपर्युक्त तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए 'विज्ञान' शब्द के अर्थ को समझ लेना अधिक प्रासङ्गिक रहेगा। प्राचीनकाल में विज्ञान' शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म विद्या' अर्थात् अध्यात्म दर्शन के लिए किया जाता था, किन्तु आजकल इस शब्द को 'प्राकृतिक विज्ञान' के संदर्भ में ही परिभाषित किया जाने लगा है। 'विज्ञान' शब्द का परिभाषित अर्थ जो आजकल किया जाता है वह है—ऐसा ज्ञान जिसकी स्थापना के पश्चात् किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति या आशंका न रहे और जो सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक भी हो तथा जिस ज्ञान की पुष्टि प्रयोगशालाओं में विभिन्न उपकरणों के माध्यम से करली गयी हो। उदाहरणार्थ, गणित एक विज्ञान है। इसमें स्थापित सूत्र 'दो और दो चार होते हैं, यह एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य है। अतः यह सूत्र विज्ञान की श्रेणी में आता है। विज्ञान के प्रसंग में एक बात और ध्यातव्य है कि विज्ञान विश्लेषणात्मक होता है। वैज्ञानिक पदार्थ का विश्लेषण करता हुआ उस सीमा तक पहुँच जाता है, जिसके आगे उस पदार्थ के खण्ड सम्भव न हों। वह पदार्थ की शक्ति, गुण, दोष और अन्य गतिविधियों का परीक्षण कर उसकी सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता का निर्धारण करता है तथा विभिन्न परीक्षणों के पश्चात् जब वह खरा उतर जाता है तो उसे एक सिद्धान्त की संज्ञा से अभिहित कर देता है। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम और आइन्स्टीन का सापेक्षवाद का सिद्धान्त इसी श्रेणी में आते हैं।

विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में जब हम 'आलोचना' का मूल्याङ्कन करते हैं तो वह किसी भी प्रकार से विज्ञान की सीमा में आबद्ध नहीं हो सकती। आलोचना का कार्यक्षेत्र है काव्य। काव्य की अभिव्यक्ति कभी भी किन्हीं स्थायी और सार्वभौमिक नियमों से आबद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उसका सम्बन्ध मानवीय जीवन एवं भावनाओं से होता है। जीवन परिवर्तनशील एवं भावनाएँ जटिल एवं समयसापेक्ष होती हैं। फलतः उनका संचालन किन्हीं स्थायी नियमों के अधीन नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर काव्य का मूल आधार सौन्दर्य होता है, जो कभी भी वस्तुनिष्ठ नहीं होता। एक वस्तु जो एक स्थल पर या एक समय पर

सुन्दर होती है, कोई आवश्यक नहीं कि दूसरे स्थल और दूसरे समय पर उसे सुन्दर माना ही जाए। तीसरे, काव्य का एक आधार संस्कृति भी होती है। संस्कृतियों मे भी समय और स्थल के अनुसार परिवर्तन आते रहते हैं। फलतः उन्हें भी किसी स्थायी नियम से आबद्ध नही किया जा सकता है। इस प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि कवि या काव्य को निश्चित नियमों मे आबद्ध नही किया जा सकता। इसीलिए संस्कृत आचार्यों ने स्पष्ट कह दिया कि—निर्बन्धाः कावयः।

उपर्युक्त सन्दर्भ में जब हम आलोचना का आकलन करते हैं तो स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जब आलोचना का काव्य ही किसी स्थायी नियमों से परिचालित नही हो सकता तो फिर आलोचना किन्ही स्थायी एवं सार्वभौमिक नियमों से आबद्ध कैसे हो सकती है। एक ही भाषा साहित्य के समस्त आलोचक किसी एक कृति के प्रति समान दृष्टिकोण रखते हो, यह आवश्यक नही है। यदि विश्व-आलोचना-साहित्य पर विहगम दृष्टि डाल कर देखें तो प्रतीत होता है कि कोई आलोचक किसी कृति को इसलिए उत्तम मानता है कि उसमे अलकारों का सुन्दर नियोजन किया गया है तो किसी आलोचक की दृष्टि में उक्त कृति इसलिए सुन्दर है कि उसमे प्रेम की पावन गगा प्रवाहित है किन्तु वह उसमें अलकार योजना को बाधक मानता है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे विभिन्न सम्प्रदायों का उत्थान भी इस बात की पुष्टि करता है कि आलोचना प्राकृतिक विज्ञान जैसे किन्ही निश्चित नियमों में आबद्ध होकर नही चल सकती। उसकी गति-नीति तो उसकी आलोच्यकृति, आलोचक दृष्टि और उसके अवगाहन की प्रक्रिया पर निर्भर करती है। दूसरे, किसी कृति का सही मूल्याङ्कन उस कृति के युग के परिप्रेक्ष्य मे ही किया जा सकता है। कवि भविष्यद्रष्टा होते हुए भी अपने युग के सामाजिक, धार्मिक आदि प्रभावों से भी अस्पृष्ट नही रह सकता। जब एक मार्क्सवादी आलोचक अपनी दृष्टि से रामचरित मानस का मूल्याङ्कन करेगा या आज के सामाजिक वातावरण मे आप्लावित मनीषी आज के वातावरण के अनुकूल रामचरित मानस को देखने का प्रयास करेगा तो वह तुलसीदास के साथ अन्याय ही करेगा। यह सत्य है कि आज के परिप्रेक्ष्य मे रामचरित मानस की महत्त्वपूर्ण प्रासंगिकता है, किन्तु आज के स्वच्छन्द वातावरण का अंकन उसमे सम्भव नही है। अतः स्पष्ट है कि आलोचना विज्ञान नही है।

जहाँ तक पद्धति का प्रश्न है, आलोचना काव्य की तुलना में वैज्ञानिक पद्धति की ओर उन्मुख रहती है। आलोचना जब काव्य का विश्लेषण, विवेचन एव मूल्याङ्कन प्रस्तुत करती है तो वह कलात्मकता के साथ-साथ वैज्ञानिकता का भी आँचल थामती है। काव्य जहाँ निष्कर्ष के प्रति उदासीन रहता है, वहाँ आलोचना निष्कर्ष की अनदेखी नहीं कर सकती और सही निष्कर्ष वैज्ञानिक पद्धति के बिना सम्भव नहीं है। क्योंकि निष्कर्ष या निर्णय के लिए किसी काव्य-कृति का विश्लेषण

एवं विवेचन अपरिहार्य है, जबकि विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति का एक अंग है। जहाँ तक ज्ञान की अन्य विधाओं के विश्लेषण एवं विवेचन का प्रश्न है, वह भी उस विधा की आलोचना ही है किन्तु साहित्यिक आलोचना और ज्ञान की अन्य विधाओं की आलोचना में एक मूलभूत अन्तर है और वह अन्तर है भावना का, राग का। साहित्यिक आलोचक बुद्धि के यान पर आरूढ़ होकर राग एव कल्पना की रजनीगन्धा या भाव की बेला की सुमधुर भीनी गन्ध में अपने विचारों को साकार रूप प्रदान करता है। अप्रत्यक्ष रूप में वह भी एक भावमयी सृष्टि का निर्माण करता है, जबकि शेष अन्य प्रकार का आलोचक तर्क को परुष कंकरीली पगडण्डियों पर घिसटता हुआ भावना जगत् से सर्वथा अस्पृष्ट बोझिल सिद्धान्तों की स्थापना करता है। उसमें केवल बुद्धि-विलास ही रहता है। उससे भी सत्य का उद्घाटन तो होता है किन्तु वह केवल नंगा सत्य होता है। उसमे आकर्षण, कोमलता और कान्तता के स्थान पर विकर्षण, परुषता और जड़त्व ही अधिक रहता है। यही कारण है कि 'आलोचना' शब्द साहित्यिक आलोचना का ही पर्याय बन गया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आलोचना विज्ञान तो नही है, हाँ! उसकी पद्धति अवश्य वैज्ञानिक है और पद्धति वैज्ञानिक होते हुए भी राग एव कल्पना के सान्निध्य से वह रसमयी सृष्टि में परिणत हो जाती है। फलत. अन्ततोगत्वा वह कला या काव्य का ही अभिन्न अंग बनी रहती है, विज्ञान नही बन पाती। इसी में इसका गौरव है।

(4) आलोचक के गुण

'गुणाः सवत्र पूज्यन्ते' व्यक्ति किसी भी कर्मक्षेत्र में अवतरित हो उसमें उस क्षेत्र के अनुरूप गुणों का होना आवश्यक है। यदि तदनुरूप गुण उसमे नहीं हैं तो वह साफल्यमण्डित नही हो सकता। यही सिद्धान्त आलोचक पर भी लागू होता है। यदि किसी आलोचक मे अपेक्षित गुणों का अभाव है और फिर भी वह आलोचना के क्षेत्र में अवतरित होता है तो वह आलोच्य कृति के साथ न्याय कर सकेगा, संदिग्ध ही है। इसीलिए विद्वानों ने अत्यन्त सावधानी के साथ आलोचक के लिए कतिपय अपरिहार्य गुणों का निर्धारण किया है जो इस प्रकार हैं :—

(1) विषय का निष्णात पण्डित, (2) निष्पक्षता, (3) अभिव्यक्ति की क्षमता, (4) सहृदयता।

(1) विषय का निष्णात पण्डित :—'कवि: करोति काव्यानि रस जानन्ति पण्डिता:' या 'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जन परिश्रमम्' आदि भारतीय मनीषियों की उक्तियाँ इस बात का प्रमाण है कि आलोचक को विषय की अर्थात् आलोच्य कृति के विषय की सम्यक् जानकारी होनी चाहिए। जब कोई व्यक्ति सम्बद्ध विषय के सम्बन्ध मे कुछ जानता ही न हो तो वह उसके रहस्यों, सौन्दर्य स्थलों एवं रूपों का प्रकाशन कैसे कर पाएगा। अतः स्पष्ट है कि आलोचक मे सम्बद्ध विषय को

समझने एवं समझाने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए और वह क्षमता तभी आ पाएगी, जब वह (आलोचक) उस विषय का निष्णात पण्डित होगा। इतना ही नहीं, आलोचक में काव्य-कृति के माध्यम से कवि के अन्तराल को स्पष्ट करने की क्षमता भी होनी चाहिए। यह क्षमता तभी सम्भव होगी, जब उसे उस युग की—जिस युग की वह रचना हो—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि समस्त परिस्थितियों का ज्ञान हो, क्योंकि वे परिस्थितियाँ ही तो हैं, जो कवि के अन्तस्तल की धारणाओं एवं मन. स्थिति का निर्माण करती हैं। उन परिस्थितियों की सम्यक् जानकारी के पश्चात् ही कोई आलोचक आलोच्य कृति की गहराई में प्रविष्ट होने में सक्षम हो सकेगा और तभी वह किसी काव्यकृति के साथ न्याय कर पाएगा। प्रायः सभी विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि आलोचक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे कृति का एवं कृति से सम्बद्ध अन्य विषयों का विद्वान् होना चाहिए, जिससे कृति का कोई भी तथ्य उसकी आँखों से ओझल न होने पाये और वह कृति प्रमाताओं के समक्ष पारदर्शी शीशे की तरह अथवा जाज्वल्यमान स्वर्णपिण्ड की तरह समुपस्थित हो सके।

(2) निष्पक्षता—आलोचक किसी पूर्वाग्रह, दुराग्रह या पक्षाग्रह से ग्रस्त नहीं होना चाहिए। अत स्पष्ट है कि उसे निष्पक्ष होकर ही किसी काव्यकृति को अपनी आलोचना का विषय बनाना चाहिए। सम्भवत इसी भय से त्रस्त होकर राजशेखर को लिखना पड़ा कि किसी कवि को अपनी कृति की आलोचना स्वय नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे आलोचना में मात्सर्य-दोष आ जाने की सम्भावना है; यथा:—

य: सम्यग्विविनक्ति दोपगुणयो: सारं स्वयं सत् कवि: ।
सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः ।।

यदि कोई आलोचक किसी कृति की प्रशसा के पुल इसलिए बाँधता है कि वह उसके मित्र की रचना है अथवा किसी कृति की बुराई वह इसलिए करता है कि वह उसके विपक्ष के व्यक्ति, शत्रु या वैरी की रचना है तो इससे बड़ा आलोचना का अन्य कोई दुर्भाग्य नहीं हो सकता। जगन्नाथदास रत्नाकर ने इस प्रसग की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है :—

सकै दिखाय मित्र को जो तिहि दोप असंसै ।
औ सहर्ष सत्रुहुँ के गुन को भाषि प्रससै ।।

अनेक बार विचारों का दुराग्रह या अपने किसी निश्चित मत या सिद्धान्त के कारण आलोचक पूर्वाग्रह से ग्रस्त हो उठता है और आलोच्य कृति में वह सब कुछ देखना चाहता है, जो उसके मस्तिष्क में पहले से ही विद्यमान है। यदि वह कुछ उसे उसमें मिल जाता है तो वह उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करेगा और यदि उसे

उसकी उपलब्धि वहाँ पर नही होती है तो वह झल्ला कर उसके प्रति निन्दा प्रस्ताव पास करने मे किञ्चित् भी विलम्ब नही करेगा। फलत इससे साहित्य का अहित ही होगा। इस दृष्टि से साहित्य के सुसंवर्द्धन और सहृदय सामाजिक के लिए उचित मार्गदर्शन हेतु आलोचक को सदैव निष्पक्ष होकर ही आलोचना के प्रागण मे प्रवेश करना चाहिए। होना तो यह चाहिए कि जब कोई आलोचक किसी कृति की आलोचना करने बैठे तो उसकी दृष्टि मे चिडिया की आँख की तरह केवल आलोच्य कृति ही होनी चाहिए। यदि कृतिकार के सन्दर्भ की आवश्यकता पड़े तो आलोचक को कृति के माध्यम से कृतिकार तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि सीधे कृतिकार के साथ उसके व्यक्तिगत सम्बन्धों के माध्यम से।

अन्त में श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के शब्दों के साथ ही इस तथ्य को स्पष्ट कर देना असंगत न होगा—'मित्रता के कारण किसी पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवाय और कुछ नहीं है। ईर्ष्या, द्वेष अथवा शत्रुभाव से वशीभूत होकर किसी की कृति मे अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम है।'

(3) **अभिव्यक्ति की क्षमता** :—जैसा कि पूर्व पृष्ठो मे स्पष्ट किया जा चुका है कि आलोचक विषय का पण्डित एवं निष्पक्ष होना चाहिए किन्तु उक्त दोनों गुणों के रहते हुए भी यह आवश्यक नही है कि वह कृति को समग्र रूपेण स्पष्ट कर पाये। इसके लिए आवश्यक है कि आलोचक में अपने कथन को स्पष्ट, सरल एवं मधुर ढंग मे व्यक्त करने की क्षमता भी हो। यदि आलोचक में कृति का सम्यक् अवगाहन करने के पश्चात् उसने आलोच्य कृति में से जो सार तत्त्व ग्रहण किया अथवा उसने तत्समय जो कुछ अनुभव किया उसे अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट ढंग से व्यक्त करने की शक्ति नहीं है तो उसमे और सामान्य पाठक में कोई विशेष अन्तर नही रहेगा। अभिव्यक्ति के कौशल के लिए आलोचक में दो बातों का होना अत्यन्त आवश्यक है। एक तो उसका भाषा पर अभूतपूर्व अधिकार हो, जिससे वह उपयुक्त कथन के लिए उपयुक्त शब्दावलि और सुसंगठित वाक्य-विन्यास द्वारा विषय को सुबोध एवं सरल बना सके, जिससे सामान्य पाठक भी उक्त कृति के सौन्दर्य से अभिभूत हो सके तथा कृति मे प्रतिपादित जटिल दार्शनिक रहस्यों एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों से अवगत हो सके। दूसरे, आलोचक में अनुभूति की तीव्रता हो। विद्वानों का अभिमत है कि किसी भी व्यक्ति में अनुभूति की जितनी अधिक तीव्रता होगी, उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही सटीक एवं सफल होगी। क्रोचे तो बल ही इस बात पर देते हैं कि सफल अभिव्यक्ति के लिए तीव्र अनुभूति का होना अनिवार्य है। यदि कोई कवि या कलाकार अपनी बात को सफल ढग से व्यक्त करने में असफल रहता है तो उसका प्रमुख कारण होता है सही अनुभूति का अभाव। यदि किसी आलोचक ने किसी कृति का सम्यक् अध्ययन कर लिया और उसे समझ भी लिया किन्तु यदि उसमें उसी अनुभूति का

उदय नही हुआ जो कृतिकार मे हुआ होगा और उसमें उतनी ही तीव्रता नही था पायी, जितनी आनी चाहिए थी तो स्पष्ट है कि आलोचक की अभिव्यक्ति भी दुर्बल ही रहेगी। अत व्युत्पत्ति और अभ्यास के माध्यम से आलोचक को अपनी अभिव्यक्ति की क्षमता को निरन्तर बढाते रहना चाहिए।

(4) सहृदयता :—अग्रेजी आलोचक ड्राइडन का कथन है कि एक असफल कवि ही सफल आलोचक होता है।[1] इसके विपरीत पोप एवं बेन जोनसन का कथन है कि 'उत्तम कवि ही उत्तम कोटि का आलोचक होता है।[2] उक्त दोनों ही वर्गों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आलोचक को भी कवि के समान ही सवेदनशील, भावुक एवं सहृदय होना चाहिए। इधर भारतीय मनीषियों का तो निर्भ्रान्त अभिमत है कि आलोचक मे सहृदय का गुण होना एक अनिवार्य तथ्य है। राजशेखर ने काव्य के प्रमुख हेतु 'शक्ति' या प्रतिभा को दो वर्गों में विभाजित कर डाला—(1) कारयित्री प्रतिभा और (2) भावयित्री प्रतिभा। राजशेखर के अनुसार, कवि में कारयित्री प्रतिभा का सन्निवेश रहता है और आलोचक मे भावयित्री प्रतिभा पायी जाती है। इस विवेचन से आलोचक मे सहृदयता का होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसके साथ-साथ आचार्य धर्मदत्त ने स्पष्ट शब्दावली में इस तथ्य की पुष्टि की है; यथा:- 'सवासनानां सभ्यानां रसास्वादनं भवेत्।' अर्थात् सहृदय सभ्यों को ही काव्यरस की अनुभूति होती है। अन्य आचार्य तो कवि और भावक में अन्तर ही स्वीकार नही करते; यथा —कः पुनरनयोर्भेदो यत्कवि· भावयति भावकश्च कविः इत्याचार्याः। प्राच्य एवं पाश्चात्य आचार्यों की उपरिकथित उक्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि आलोचक में सहृदयता का गुण होना अत्यन्तावश्यक है।

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यदि हम आलोचक के सहृदयता के गुण का विवेचन करे तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त गुण के बिना कोई भी आलोचक विवेच्य कृति के साथ न्याय नही कर पाएगा, क्योंकि कवि ने जिस भाव-भूमि पर अधिष्ठित होकर जिन मणि-रत्नों की माला पिरोई है, उस के सौन्दर्य का अंकन तब तक सम्भव नही है, जब तक कि कोई आलोचक अपने आप को उसी भावभूमि पर अधिष्ठित नही कर लेता और ऐसा करने के लिए उसमे सहृदयता के गुण का होना अपेक्षित है। यदि आलोचक में भाव-प्रवणता की क्षमता नहीं है, यदि वह भावजगत् में प्रविष्ट होकर अपने अन्दर का विगलन नही कर पाता है तो कवि द्वारा प्रस्थापित भावभूमि की मौलिक विशेषताओं को समझ ही नही पाएगा और जब वह उसे हृदयगम ही नही कर पाएगा तो चाहे विषय का निष्णात पण्डित हो, निष्पक्ष हो

(1) A Perfect Judge will read each work of writ
with the same spirit that its author writ.
—Alexander Pope

(2) to Judge of Poets in only the faculty of Poets, and not
of all poets, but the best. —Ben Jonson

श्रौर श्रभिव्यक्ति में कुशल हो, कवि की प्रतिभा को शेष सहृदय सामाजिकों के लिए किसी भी स्थिति मे उद्घाटित नही कर पाएगा। श्राचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस तथ्य का सटीक उद्घाटन किया है; यथा—उनके (कवियों के) कार्यों से आनन्द का यथेष्ट अनुभव वही कर सकते हैं जिनका हृदय इन्ही के सदृश, किम्बहुना इनसे भी अधिक सुसंस्कृत, कोमल श्रौर भावग्राही होता है। श्री दिनकर की भी यही धारणा है 'समालोचक में कविवत् भावुकता, चिन्तन की कोमलता, भावों की प्रवणता श्रौर रसग्राहिता होनी चाहिए, अन्यथा वह उन मनोदशाश्रों के धूमिल विश्व में पहुँच ही नही सकता, जिसमे कविता की सृष्टि की जाती है।

(5) श्रालोचना की उपादेयता

प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते। श्रर्थात् मूर्ख व्यक्ति भी निष्प्रयोजन कोई कार्य नही करता तो विद्वद्वर श्रालोचक तो ऐसे कार्य मे प्रवृत्त ही नही होगा, जिसकी शेष समाज के लिए कोई उपादेयता न हो। श्रालोचना की उपादेयता पर दो दृष्टियों से विचार किया जाना चाहिए —(1) कवि या निर्माता की दृष्टि से श्रौर (2) सहृदय पाठक की दृष्टि से।

(1) कवि की दृष्टि से :—श्रालोचना का कवि के लिए अत्यन्त महत्त्व होता है। जब कोई श्रालोचक किसी कृति को अपनी लेखनी का विषय बनाता है श्रौर सफल मूल्याङ्कन प्रस्तुत कर देता है तो उससे कवि के यश मे वृद्धि होती है। कृति के प्रसार एवं प्रचार में सहायता मिलती है।

जब कोई श्रालोचक किसी कृति के गुण-दोषों का प्रकाशन करता है तो उसके माध्यम से कवि को दोषों के परित्याग श्रौर गुणों के काव्य मे विवर्धन करने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार साहित्य जगत् में सत्कृतियों के लेखन की प्रवृत्ति बढती है श्रौर उस भाषा के साहित्य का भण्डार सत्साहित्य की विपुलता से भर जाता है।

श्रालोचना के माध्यम से कवि के विचारों में प्रौढ़ता का सन्निवेश होता है श्रौर उसके चिन्तन मे परिपक्वता श्रा जाती है। इसका यह कारण है कि श्रालोचक किसी कृति के गुण-दोषों का विवरण ही प्रस्तुत नही करता, बल्कि उनके समाहार श्रौर परिहार का सुझाव भी देता है। फलस्वरूप कवि या कलाकार तदनुकूल अपने विचारों एवं शिल्प में परिवर्तन करता है। इस कारण कलाकार मे प्रौढता का सन्निवेश होता चला जाता है।

इसके साथ-साथ श्रालोचना से कवि का मार्ग-दर्शन भी होता है। प्राचीन श्राचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य मे जब कवि अपनी रचना का प्रणयन करता है तब उन्ही श्राधारो पर कोई श्रालोचक उस कृति का विवेचन प्रस्तुत करता है तथा कृति मे रहे अभावों की श्रोर इंगित करता है। उसी सन्दर्भ

मे कवि फिर अपनी उसी रचना या अन्य रचनाओं मे परिष्कार कर लेता है। अन्ततोगत्वा वह उत्तम कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत करने मे सक्षम हो जाता है।

यद्यपि तुलसी बाबा कहते हैं कि 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' तो भी कवि या कलाकार अपनी कृति के सम्बन्ध में जन-प्रतिक्रियाओं के प्रति मुख्यतः आलोचकों एव काव्य-शास्त्रियों की प्रतिक्रियाओं के प्रति सजग रहता है। जब आलोचक किसी कृति को एक अच्छी कोटि की रचना का फतवा दे देता है तो उसमे कवि या कलाकार का उत्साह भी बढ जाता है।

पाठक की दृष्टि से भी आलोचना की उपादेयता असन्दिग्ध है। सर्वप्रथम तो आलोचना के माध्यम से काव्य के रहस्यों का उद्घाटन हो जाने तथा जटिल स्थलो की स्पष्ट व्याख्या हो जाने से पाठक को रसास्वादन मे सुविधा प्राप्त होती है। इस बाधक स्थलों का निराकरण हो जाने से पाठक सम्बद्ध कृति से सरलता से आनन्द प्राप्त कर लेने की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इसके साथ-साथ आलोचक आलोच्य कृति को पाठको के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि उससे पाठक की सवेदनाएँ अधिक तीव्र गति मे जागृत हो उठती हैं और फिर पाठक कृति के साथ अत्यन्त सरलता से साधारणीकरण करने की स्थिति में आ जाता है।

इसी प्रकार आलोचना के कारण सहृदय पाठक को सत्साहित्य के प्रामाणिक अनुशीलन की सुविधा प्राप्त होती है। फलत आलोचना के अध्ययन से पाठक की बोधवृत्ति मे अभिवृद्धि एव उसकी रुचि में परिष्कार आ जाता है। इसके साथ-साथ आलोचना पाठक को बौद्धिक सजगता भी प्रदान करती है और उसे काव्य के विभिन्न सिद्धान्तो से परिचित कराती है। फलतः पाठक में निर्णय-शक्ति का आविर्भाव होता है और सत्साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा जागृत होती है।

आलोचना से कृतिकार और पाठक ही लाभान्वित होते हो, ऐसी बात नहीं है। इसकी आलोचक के लिए भी उपादेयता है। उत्तम कोटि की आलोचनात्मक कृति मे आलोचक को भी यश की प्राप्ति होती है। आचार्य शुक्ल, डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र प्रभृति विद्वान् अपनी आलोचनात्मक कृतियों के कारण ही हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित व्यक्तित्व है।

'यश' के साथ-साथ आलोचक को आर्थिक लाभ भी होता है। अनेक बार तो ऐसा देखा जाता है कि मूल कृति की तुलना मे आलोचनात्मक कृतियों की बिक्री अधिक होता है। प्राचीन युग की तरह इस युग मे भेंट, पुरस्कार आदि के माध्यम से धन लाभ की सम्भावना तो नही है किन्तु मुद्रण-व्यवस्था के कारण सम्बद्ध ग्रन्थो की बिक्री से पर्याप्त धनराशि की प्राप्ति हो जाती है।

(6) हिन्दी आलोचना का विकास

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी साहित्य मे आलोचना — जो स्वरूप उभर कर आया है, वह भारतीय काव्य-शास्त्र से कुछ हट कर

विकसित हुआ है। आज के आलोचना-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र को हम उसके एक रूप-सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत परिगणित कर सकते हैं। इसे ही कुछ लोग शास्त्रीय आलोचना के नाम से भी अभिहित करते हैं। दूसरे, दोनों में दृष्टिभेद भी पाया जाता है। प्राचीन भारतीय मनीषी काव्य की आत्मा तक पहुँचने के लिए लालायित थे। इसीलिए वे किसी एक सार तत्त्व को प्राप्त कर लेना चाहते थे, जिस के द्वारा काव्य का समग्र संचालित होता है, जबकि आज का आलोचक उन सभी प्रभावों, पृष्ठभूमियों तथा भावभूमियों का विस्तृत विवेचन एवं विश्लेषण करना चाहता है, जिन्होंने कवि की धारणाओं का निर्माण किया और जिनके कारण कवि ने काव्य को जन्म दिया। इसके साथ ही काव्य के प्रमुख आधार 'भाव' को वह सामान्य रूप में ग्रहण न कर उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना चाहता है। आज के युग मे 'मन' के विभिन्न स्तरों, उत्थान-पतन, परिवर्तन, परिवर्धन, आवेग, संवेग, संचालन, परिचालन, अपचालन आदिका सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है। अतः उस पृष्ठभूमि मे भी आलोचक किसी काव्य-कृति का मूल्याङ्कन करना चाहता है। दूसरे, आज के युग मे यान्त्रिक विकास के साथ-साथ जीवन भी एक यन्त्र सा बनता जा रहा है। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि जीवन के मूल्यों में भयावह उठा-पटक चल रही है। अर्थ-तन्त्र सभी को दबोचे हुए है। ये सब वे वस्तुएँ या घटक हैं, जिनके अधीन सर्जनशील कलाकार अपना जीवनयापन कर रहा है। वह इन के दबावों से मुक्त नहीं रह सकता। ऐसी मान्यता है आज के आलोचक की। फलतः वह आलोच्य कृति को उन सभी प्रभावों एव दबावों के प्ररिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित करना चाहता है। फलतः आलोचना के विभिन्न प्रकार एव वाद प्रकाश मे आ चुके है। इन सबके क्रमिक विकास को ही हम 'हिन्दी आलोचना का विकास' कह कर अभिहित करते हैं।

हिन्दी साहित्य के आदि काल में गद्य साहित्य के अभाव के कारण अथवा अन्य कारणों से आलोचना के स्वतन्त्र विकास के कोई चिह्न दृष्टिगत नही होते। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य की तरह किसी विद्वान् या भावुक कलाकार की किसी कवि या कृति पर की गयी कोई आलोचनात्मक टिप्पणी भी उपलब्ध नही होती। फलत. कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में काव्य-शास्त्र या आलोचना जैसी किसी विधा का अस्तित्व नही था।

कतिपय विद्वान् कवियो द्वारा अपने काव्य-ग्रन्थो में व्यक्त उन काव्य-शास्त्रीय उक्तियो में आलोचना के विकास का दर्शन करते हैं, जो उन्होंने प्रसंगवश अपने सम्बन्ध में, अपनी कृति के सम्बन्ध मे अथवा काव्य-शास्त्र के किसी पक्ष या अंग के सम्बन्ध में कही है। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम विद्यापति को उद्घृत किया जाता है, जहाँ उन्होंने अपनी भाषा या काव्य के सम्बन्ध मे कहा है :—

वालचन्द विज्जावई-भाषा। दुहु नहि लग्गई दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर-सिर सोहई। ई निश्चय नाअर-मन मोहई॥

वस्तुतः यह एक ऐसा कथन है, जिसमे भावी आलोचना के बीज देखे जा सकते हैं किन्तु ऐसे कथनो को आलोचना की आधारशिला नही माना जा सकता क्योंकि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में आलोचना का प्रवाह जिस दिशा और जिस धारा के रूप में प्रवहमान हुआ है, उसके लक्षण निश्चय ही ऐसे कथनों में दृष्टिगत नही होते। इसी प्रकार के अनेक कथन भक्ति काल के भक्त कवियों की रचनाओं में बिखरे पडे हैं। प्रसिद्ध हिन्दी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने ग्रन्थ पद्मावत के अन्त में अपनी कविता का कुछ इसी प्रकार से परिचय दिया है; यथा :—

मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा ।।
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ।।
धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू ।।

इसी प्रकार की अनेक सूक्तियाँ महाकवि तुलसीदास की अमर रचना रामचरित मानस में भी बिखरी पड़ी हैं। इन उक्तियों से निस्सन्देह कवियों के काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण का परिचय तो मिलता है किन्तु इन्हें आलोचना की आधारशिला मान लेना युक्तिसगत प्रतीत नही होता। इन उक्तियों में कवियों ने या तो अपने सम्बन्ध में कुछ कह दिया है या फिर किसी काव्य-सम्बन्धी सामान्य उक्ति का कथन कर दिया गया है, जो परम्परागत सस्कृत साहित्य से चली आ रही होती है।

आलोचना साहित्य का बीज-वपन निश्चय ही भक्ति काल में हो गया था, किन्तु कवियों की व्यक्तिगत उक्तियो से नही अपितु विद्वान् सहृदय पाठकों को उन सूक्तियो से जो किसी कृति के रस-सागर में निमग्न होने के पश्चात् उद्गमित हुई हैं। भक्तिकाल में हमे आलोचना के दो रूपों से परिचय होता है। एक तो शास्त्रीय या सैद्धान्तिक आलोचना से, जिसका शुद्ध परम्परागत शास्त्रीय रूप नन्ददास के 'रस मञ्जरी' ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। दूसरे, व्यावहारिक आलोचना के तुलनात्मक एव प्रभावात्मक रूपों का दर्शन होता है, जब कोई विद्वान् किसी कृति के चिन्तन और मनन के पश्चात् अपने प्रभाव की अभिव्यक्ति कर बैठा है; यथा :—

किधौं सूर को सर लगौ किधौं सूर की पीर।
किधौ सूर को पद लगौ तन मन धुनत शरीर ।।

अनेक विद्वानो का अभिमत है कि स्वयं सूरदास जी ने 'साहित्य लहरी' ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ मे सूरदास ने नायक-नायिका भेद, रस, अलकार आदि काव्यांगों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत कर वस्तुत. शास्त्रीय आलोचना की आधारशिला रख दी थी, जिसका पूर्ण विकास आगे चल कर रीतिकाल में हुआ। सूरदास

के पश्चात् नन्ददास ने 'रसमञ्जरी' ग्रन्थ का प्रणयन किया जो संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ भानुदत्त कृत 'रस मञ्जरी' के आधार पर लिखी गयी है। इस ग्रन्थ में प्रमुखतः नायक-नायिका भेद पर प्रकाश डाला गया है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए नन्ददास ने लिखा है :—

रस मंजरी अनुसार कै नन्द सुमति अनुसार।
वरनत वनिता-भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार।।

जहाँ तक प्रभावात्मक आलोचना का प्रश्न है उसका बीज-वपन भी भक्ति काल में हो चुका था। तुलसी और सूर की श्रेणी में गग कवि और कवि केशवदास के नामों का उल्लेख तत्कालीन आलोचक प्राय. करते रहे हैं। महाकवि तुलसीदास के सम्बन्ध में रहीम खानखाना की निम्नलिखित उक्ति प्रभावात्मक आलोचना का अच्छा उदाहरण है :—

सुरतिय नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय।।

इसी प्रकार संस्कृत शैली पर सूरदास पर लिखी गयी निम्नलिखित उक्ति को तुलनात्मक आलोचना का आधार माना जा सकता है; *यथा :—*

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गम्भीर को, सूर तीन गुन धीर।।

ऐसी ही एक उक्ति तुलसी और गंग के सम्बन्ध में भी उपलब्ध होती है जो भक्तिकाल के किसी दास कवि की बतायी जाती है; यथा:—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।।

इस प्रसग मे महाकवि देव की गग के सम्बन्ध मे कही गयी उक्ति निश्चय *ही उत्तम कोटि की आलोचना का प्रमाण कही जा सकती है:—*

सब देवन को दरबार जुर्‌यो तहँ पिंगल छन्द बनाय कै गायो।
जब काहूँ तें अर्थ कह्यो न गयो, तब नारद एक प्रसंग चलायो।।
मृतलोक में है नर एक गुनी, कवि गग को नाम सभा में बतायो।
सुनि चाह भई परमेसर को तब गंग को लेन गनेस पठायो।।

उपर्युक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है कि कवियों की काव्य दृष्टि में आलोचना के क्रमिक चिह्न देखने की अपेक्षा उन विद्वानों की सूक्तियों में आलोचना के प्रारम्भिक रूप का चिह्नित किया जाना चाहिए, जो सही अर्थों में आलोचक बनने के अधिकारी हैं।

भक्तिकाल के पश्चात् जब हम रीतिकाल में प्रवेश करते हैं तो पाते हैं कि रीतिकाल के प्रायः सभी कवियो ने काव्य के अंगो-उपांगों पर अपनी लेखनी चलायी

है। यह सत्य है कि इस युग मे जो कुछ लिखा गया, वह सब संस्कृत काव्य-शास्त्र का छायानुवाद मात्र है। इन के ग्रन्थो में किसी प्रकार की मौलिकता की खोज करना न तो उचित ही है और न सम्भव ही है। यह सही है कि रीतिकालीन समीक्षाशास्त्र पर सस्कृत काव्य-शास्त्र हावी रहा है, क्योकि रीतिकालीन कवि प्रायः संस्कृत के पण्डित रहे हैं किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि रीतिकालीन आचार्यों ने हिन्दी साहित्य मे एक प्रणालीबद्ध आलोचना की स्थापना की। यह इतर वार्ता है कि आधुनिककाल में आलोचना का जो स्वरूप उभर कर सामने आया, उसके साथ रीतिकालीन आलोचना का योगदान नगण्य है। यद्यपि आधुनिककाल में भी हमारे आलोचना-शास्त्र पर संस्कृत काव्य-शास्त्र का अप्रतिम प्रभाव है, रसवादी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र प्रभृति विद्वान् आज भी अपनी प्राचीन परम्परा से पूर्णतः जुड़े हुए हैं किन्तु इन्होने प्राचीन काव्य-शास्त्र का जो मौलिक विवेचन, सिद्धान्तों की नवीन एव सटीक व्याख्याएँ तथा अपने परिवेश के साथ उन सिद्धान्तों की ससिद्धि का जो स्तुत्य प्रयास किया है, वह रीतिकालीन आचार्यों मे उपलब्ध नही होता। वास्तविकता तो यह है कि रीतिकालीन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य लक्षणो की स्थापना न हो कर स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करना था। फलत लक्षण गौण हो गये और उदाहरण मनोरम और हृदयग्राही हो उठे। इतना सब होने पर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि संस्कृत साहित्य के पश्चात् काव्य-शास्त्र की एक परम्परा, जो धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही थी उसकी पुनः स्थापना का श्रेय रीतिकालीन आचार्यो को ही जाता है। कम से कम इतना स्वीकार करने के लिए तो हमे तैयार रहना ही चाहिए कि द्विवेदी युगीन अनुवाद परम्परा ने जिस प्रकार कथा, नाटक, उपन्यास आदि के लिए जैसे एक आधारभूमि तैयार की, उसी प्रकार रीतिकालीन आचार्यों ने भी काव्य-शास्त्र के लिए एक आधारभूमि तैयार की। परीक्षागुरु और सयोगिता स्वयम्वर जैसी कृतियों ने जिस प्रकार गोदान, कंकाल, लज्जा जैसे उपन्यासों को प्रेरणा दी उसी प्रकार रीतिकालीन आचार्यों के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्था ने आचार्य शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र के व्यक्तित्व निर्माण मे अपना योगदान किया है। दोनो ही आचार्य इस तथ्य से इन्कार नही कर सकते। अत रीतिकाल पर मौलिकता के अभाव की मुद्रा अंकित कर आगे निकल जाना न तो उचित ही है और न काम्य ही, अपितु ऐसा कर के हम उन विद्वानों के परिश्रम के प्रति अन्याय ही करते हैं। स्वयं आचार्य शुक्ल ने महाराजा जसवन्तसिह के 'भाषाभूषण, मतिराम के रसराज और ललित ललाम,' सुखदेव मिश्र के 'वृत्त विचार' आदि ग्रन्थों की प्रशंसा की है। खैर ! जो कुछ भी हो किन्तु रीतिकाल का इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही।

वस्तुत. आलोचना का तात्कालिक काव्य साधना के अनुरूप सही विकास आधुनिककाल में ही हुआ है। इसके अनेक कारण हैं। एक तो शास्त्रीय विवेचन एवं काव्य-विश्लेषण के लिए गद्य का होना परमावश्यक होता है। आधुनिककाल

में गद्य का प्राविर्भाव हो चुका था, जो प्राधुनिककाल के प्राचार्यों के लिए अत्यन्त सुविधाजनक रहा। दूसरे, प्रांग्ल भाषा के पठन-पाठन ने विद्वानों को विवेचन एव विश्लेषण की मौलिक दृष्टि प्रदान की, इससे भी इन्कार नही किया जा सकता। तीसरे, अनेक सास्कृतिक विद्वानो ने भारत मे सास्कृतिक पुनरुत्थान का श्रीगणेश किया, जिससे संस्कृत भाषा के अध्ययन की ओर विद्वानो की रुचि बढी और हमने संस्कृत काव्य-शास्त्र को नये परिप्रेक्ष्य में देखने और तदनुरूप उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया। चौथे, पाश्चात्य जगत् की प्रौद्योगिक क्रान्ति ने भी भारतीय मनीषियो को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की तथा जीवन के समस्त पहलुग्रो को उसके उसी रूप में देखने की ओर उन्मुख किया। फलतः हम काव्य में प्राचीन प्रादर्शों, काव्य के विभिन्न अंगो एवं उपांगो के साथ-साथ जीवन के उन पहलुग्रों के विवेचन की ओर भी उन्मुख हुए जिसे हम भोग रहे थे। पाँचवे, हमने काव्य को राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ मे भी देखने का प्रयास किया और जीवन के सामाजिक एव आर्थिक पहलुग्रो को भी काव्य का अभिन्न अंग मान कर काव्य मे उसे खोजने का प्रयास किया। फलतः आलोचना का बहुमुखी विकास हुआ और काव्य के प्राचीन मानदण्ड आज की आलोचना के केवल एक अंग (सैद्धान्तिक या शास्त्रीय आलोचना) के रूप में ही समाहित होकर रह गये। संस्कृत काव्य-शास्त्र मे जिन विभिन्न सम्प्रदायो का उद्गम हुआ था, वे काव्य के भाव पक्ष या कला पक्ष तक सीमित हो गये। आज का आलोचक रस-निष्पत्ति की शास्त्रीय व्याख्या से सन्तुष्ट नही होना चाहता, बल्कि वह काव्य के प्रतिपाद्य या कथ्य का विवेचन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक दृष्टियो से करना चाहता है और इन सब दृष्टियों से वह कहाँ तक सफल और असफल रहा है, उसका मूल्यांकन कर उस पर अपना निर्णय भी देना चाहता है। इन सब कारणों से आलोचना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता चला गया। इस दृष्टि से आधुनिक काल के आलोचना साहित्य को चार युगों मे वर्गीकृत किया जा सकता है:—

(1) भारतेन्दु युग (2) द्विवेदी युग (3) शुक्ल युग, और (4) शुक्लोत्तर युग। कतिपय विद्वान् आचार्य शुक्ल को प्रमुख बिन्दु मान कर इसे केवल तीन युगों में ही विभाजित करना अधिक उपयुक्त समझते हैं; यथा:—(1) शुक्ल पूर्व युग (2) शुक्ल युग, और (3) शुक्लोत्तर युग। प्रस्तुत प्रसंग में हम प्रथम वर्गीकरण को ही महत्त्व देना पसन्द करेंगे।

(1) भारतेन्दु युग :—भारतेन्दु युग मे किसी कृति के गुण दोषों का विवेचन ही आलोचना का लक्ष्य रहा। दूसरे, इस युग में आलोचना पुस्तकाकार में उभर कर नही आयी, बल्कि लेखों के माध्यम से पुस्तकों की विस्तृत समालोचना लिखी जाने लगी। इसका सूत्रपात सर्वप्रथम पं. बदरीनारायण चौधरी ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका से किया। आपने श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्वर' नाटक की कड़ी एवं विशद आलोचना अपनी पत्रिका मे प्रकाशित की। उधर स्वयम्

देव चरित चर्चा, नैषध चरित चर्चा और कालिदास की निरकुंशता' पुस्तकें प्रकाशित हुई। ये सब संस्कृत की परम्परागत रूढ़ शैली मे लिखी गयी हैं एवं इनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही है।

इसी युग में मिश्र बन्धुओं का नाम उल्लेखनीय है। इनके 'हिन्दी नवरत्न और 'मिश्रबन्धु विनोद' ग्रन्थ ही अधिक चर्चित हैं। उक्त दोनों ही ग्रन्थ किसी भी प्रकार की उत्तम आलोचना का स्वरूप प्रस्तुत नही करते। फलत. आगे चल कर हिन्दी जगत् ने इन्हें पूर्णतः नकार दिया। हाँ, 'हिन्दी नवरत्न' ने हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे देव और बिहारी को लेकर एक अच्छा खासा विवाद अवश्य उपस्थित कर दिया। इससे एक लाभ अवश्य हुआ कि कुछ विद्वानो ने बिहारी और देव की सूक्ष्म काव्यगत विशेषताओं का भी अवलोकन किया। इस विवाद में प्रविष्ट प. कृष्णबिहारी मिश्र, पं. पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन को भी नही भुलाया जा सकता। जहाँ पं. कृष्णबिहारी मिश्र ने अत्यन्त सयत एवं प्रौढ शैली में बिहारी और देव की काव्यगत विशेषताओं का विश्लेषण कर 'देव' को बिहारी की तुलना में प्रमुख स्थान दिया तो पं. पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन ने बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध करने मे अपनी सारी शक्ति लगा दी। यद्यपि आलोचना के क्षेत्र में खण्डन-मण्डनात्मक प्रवृत्ति तथा किसी को छोटा बड़ा बताने की आदत उचित नही है तो भी इस कारण से सूक्ष्म अन्वेषण, भाव-पक्ष एवं कला पक्ष का सम्यक् विवेचन तो उभर कर आता ही है। एक के दोष स्पष्ट होते हैं तो दूसरे के गुण और सुधी पाठकों को अपने विवेक के अनुसार उनके चयन का अवसर प्राप्त होता है। इसी प्रसंग में पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के 'विश्व साहित्य' ग्रन्थ का उल्लेख भी अत्यन्त आवश्यक है, जिसके कारण हिन्दी आलोचकों को पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अध्ययन की प्रेरणा मिली और जिसका सफल परिपाक आगे चल कर डॉ. नगेन्द्र की कृतियों में हुआ।

(3) शुक्ल युग :—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् एक सशक्त, मेधावी एवं सूक्ष्म अन्वेषणकर्त्ता व्यक्तित्व ने आलोचना के क्षितिज पर नयनोन्मेष किया। इन्हें पं रामचन्द्र शुक्ल के नाम से जाना जाता है। इन्होने अपनी पारदर्शी दृष्टि एवं सूक्ष्म चिन्तन के द्वारा एक कुशाग्र और तत्त्व पारखी के रूप मे हिन्दी आलोचना को नया आयाम, ऊँचा अर्थ एवं आशय प्रदान किया। वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने प्राचीन काव्य-शास्त्र के सार तत्त्व को ग्रहण कर उसमे पाश्चात्य समीक्षा का पुट देकर युगानुरूप काव्य कृतियो का अवलोकन कर आलोचना साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया। आचार्य शुक्ल के लिए तुलसीदास एक आदर्श थे। फलतः उनकी समीक्षा पद्धति लोक मगल की आधारशिला पर नैतिकता की वेश-भूषा मे रसदात्री गंगा के रूप में साकार हो उठी। आपने आलोचना की जिस किसी भी धारा या शाखा का स्पर्श किया, उसे ही तलस्पर्शिनी एवं गगन चुम्बिनी प्रकाश-शिखा का रूप प्रदान कर दिया। आपके 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद,' कविता

भारतेन्दु जी ने अपनी पत्रिका 'कवि वचन सुधा' में 'हिन्दी कविता' शीर्षक एक लेख लिखा, जिसमें कविता के गुणदोषों का सम्यक् विवेचन निहित है। इस युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण आलोचना को एक आधार भूमि प्राप्त हुई, यथा :- 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' आनन्द कादम्बिनी, सार सुधा निधि, हिन्दी प्रदीप आदि पत्रिकाओं में विभिन्न प्रकार के आलोचनात्मक लेखो का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। उदाहरणार्थ हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित 'संयोगिता स्वयम्वर' की आलोचना, 'आनन्द कादम्बिनी' मे 'बग विजेता' उपन्यास की आलोचना आदि कुछ इस प्रकार के आलोचनात्मक लेख हैं, जिनमें गुण-दोषों के विवेचन के साथ-साथ विद्वान् लेखक कृतियो के आन्तरिक मूल्याङ्कन एवं सिद्धान्तो की चर्चा की ओर भी उन्मुख हुए हैं। स्वय भारतेन्दु जी ने 'नाटक' नामक एक लेख (जो पुस्तिका के रूप में भी उपलब्ध है) मे नाटकीय सिद्धान्तो की चर्चा के साथ-साथ नाटक मे युगानुरूप परिवर्तन एवं परिवर्धन का सुझाव भी प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त आकलन के पश्चात् संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आलोचना का जो स्वरूप आज उपलब्ध होता है, उसकी मजबूत आधार-शिला की स्थापना भारतेन्दुयुगीन विद्वानों ने की, जो आगे चल कर फूलती-फलती चली गयी। भारतेन्दु युग की आलोचना को हम व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत ही परिगणित कर सकते है।

(2) द्विवेदी युग —भारतेन्दुजी के पश्चात् हिन्दी साहित्य के प्रागण में लोह-पुरुष पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पदार्पण किया। पं महावीर प्रसाद द्विवेदी सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित एवं काव्य मे नैतिकता के प्रबल समर्थक थे। वे काव्य मे भाषागत त्रुटियो के भी विरुद्ध थे। इन सब का तत्कालीन आलोचना पर अत्यधिक प्रभाव पडा। द्विवेदीयुगीन आलोचना साहित्य की सर्वोपरि विशेषता यह है कि लेखो, टिप्पणियो आदि के साथ कृति एव कृतिकारों पर स्वतन्त्र पुस्तको के प्रणयन की प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। दूसरे, इस युग मे सामान्य कोटि की तुलनात्मक आलोचना का भी सूत्रपात हुआ, जिसका आगे चल कर परिष्कृत एवं प्राञ्जल रूप मे विकास हुआ। तीसरे, पाश्चात्य आलोचना एवं प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र का स्वरूप हिन्दी आलोचना साहित्य मे अधिक निखार के साथ प्रविष्ट हुआ। इतना सब होने पर भी हम द्विवेदी युगीन आलोचना के स्तर को उच्चकोटि का नहीं कह सकते। हां! फिर भी आगामी विद्वानों के लिए आधार भूमि तैयार करने मे तथा नयी प्रकाशित पुस्तको की भाषायी त्रुटियो के दिग्दर्शन मे द्विवेदी युगीन आलोचकों का योगदान प्रशंसनीय है।

इस युग मे सर्वप्रथम पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे कालिदास की अनूदित पुस्तको की भाषायी त्रुटियो की ओर सकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी की ही 'विक्रमाङ्क-

देव चरित चर्चा, नैषध चरित चर्चा और कालिदास की निरंकुशता' पुस्तकें प्रकाशित हुई। ये सब संस्कृत की परम्परागत रूढ़ शैली मे लिखी गयी हैं एवं इनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही है।

इसी युग में मिश्र बन्धुओं का नाम उल्लेखनीय है। इनके 'हिन्दी नवरत्न और 'मिश्रबन्धु विनोद' ग्रन्थ ही अधिक चर्चित हैं। उक्त दोनों ही ग्रन्थ किसी भी प्रकार की उत्तम आलोचना का स्वरूप प्रस्तुत नही करते। फलतः आगे चल कर हिन्दी जगत् ने इन्हें पूर्णतः नकार दिया। हाँ, 'हिन्दी नवरत्न' ने हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में देव और बिहारी को लेकर एक अच्छा खासा विवाद अवश्य उपस्थित कर दिया। इससे एक लाभ अवश्य हुआ कि कुछ विद्वानों ने बिहारी और देव की सूक्ष्म काव्यगत विशेषताओं का भी अवलोकन किया। इस विवाद मे प्रविष्ट प. कृष्णबिहारी मिश्र, पं. पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन को भी नही भुलाया जा सकता। जहाँ प. कृष्णबिहारी मिश्र ने अत्यन्त संयत एवं प्रौढ शैली मे बिहारी और देव की काव्यगत विशेषताओं का विश्लेषण कर 'देव' को बिहारी की तुलना मे प्रमुख स्थान दिया तो पं. पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन ने बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। यद्यपि आलोचना के क्षेत्र में खण्डन-मण्डनात्मक प्रवृत्ति तथा किसी को छोटा बड़ा बताने की आदत उचित नही है तो भी इस कारण से सूक्ष्म अन्वेषण, भाव-पक्ष एवं कला पक्ष का सम्यक् विवेचन तो उभर कर आता ही है। एक के दोष स्पष्ट होते हैं तो दूसरे के गुण और सुधी पाठकों को अपने विवेक के अनुसार उनके चयन का अवसर प्राप्त होता है। इसी प्रसंग में पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के 'विश्व साहित्य' ग्रन्थ का उल्लेख भी अत्यन्त आवश्यक है, जिसके कारण हिन्दी आलोचकों को पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अध्ययन की प्रेरणा मिली और जिसका सफल परिपाक आगे चल कर डॉ नगेन्द्र की कृतियों में हुआ।

(3) शुक्ल युग :—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् एक सशक्त, मेधावी एवं सूक्ष्म अन्वेषणकर्त्ता व्यक्तित्व ने आलोचना के क्षितिज पर नयनोन्मेष किया। इन्हें पं रामचन्द्र शुक्ल के नाम से जाना जाता है। इन्होने अपनी पारदर्शी दृष्टि एवं सूक्ष्म चिन्तन के द्वारा एक कुशाग्र और तत्त्व पारखी के रूप में हिन्दी आलोचना को नया आयाम, ऊँचा अर्थ एवं आशय प्रदान किया। वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने प्राचीन काव्य-शास्त्र के सार तत्त्व को ग्रहण कर उसमे पाश्चात्य समीक्षा का पुट देकर युगानुरूप काव्य कृतियो का अवलोकन कर आलोचना साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया। आचार्य शुक्ल के लिए तुलसीदास एक आदर्श थे। फलतः उनकी समीक्षा पद्धति लोक मगल की आधारशिला पर नैतिकता की वेश-भूषा मे रसदात्री गंगा के रूप में साकार हो उठी। आपने आलोचना की जिस किसी भी धारा या शाखा का स्पर्श किया, उसे ही तलस्पर्शिनी एवं गगन चुम्बिनी प्रकाश-शिखा का रूप प्रदान कर दिया। आपके 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद,' कविता

क्या है ? 'काव्य में लोक-मगल की साधनावस्था' आदि अनेक लेखों में तथा 'रस मीमांसा' जैसे ग्रन्थों मे सैद्धान्तिक आलोचना का प्रासाद आलोकित है तो गोस्वामी तुलसीदास, भ्रमरगीत सार को भूमिका और जायसी ग्रन्थावली की भूमिका मे व्याख्यात्मक एवं निर्णयात्मक आलोचना के दर्शन होते हैं। आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कवि, युग, एवं काव्य विधाओं के विकास के सम्बन्ध मे प्रदत्त टिप्पणियाँ भी आलोचना के विभिन्न आयामों का उद्घाटन करती हैं। संक्षेप मे कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल की मेधा का संस्पर्श पाकर हिन्दी आलोचना ने एक स्थायी समृद्ध साहित्यानुरूप स्वरूप ग्रहण कर लिया तथा वह भावी आलोचको के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करने लगी।

इस युग के अन्य आलोचकों मे डॉ. श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन,' श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी का 'हमारे साहित्य निर्माता' डॉ सत्येन्द्र का 'गुप्तजी की कला', डॉ. नगेन्द्र का 'सुमित्रानन्दन पंत' आदि अनेक ग्रन्थ उच्च कोटि की आलोचना के प्रतीक ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इसी प्रसंग में प. रामकृष्ण शुक्ल की 'सुकवि समीक्षा' भी उल्लेखनीय हैं।

(4) शुक्लोत्तर युग :—आचार्य शुक्ल द्वारा प्रशस्त मार्ग को और भी अधिक स्वच्छ एवं प्राञ्जल बनाने में शुक्लोत्तर आलोचको का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सच तो यह है कि इसके पश्चात् हिन्दी-साहित्य में आलोचना की बाढ सी आ गयी। इसमे दो प्रकार के आलोचक आते हैं—एक तो वे जो फैशन के लिए अथवा मार्केट मे आने के लिए ही कुछ लिखना चाहते हैं जिनका वास्तविक आलोचना से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। दूसरे, वे विद्वान् मनीषी हैं, जिन्होने अपनी कृतियों, लेखो आदि से हिन्दी आलोचना के गौरव को ही नही बढ़ाया, बल्कि आलोचना-साहित्य को अनेक नये आयाम भी प्रदान किये है। कुछ विद्वानों ने प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तो का अत्यन्त मार्मिक एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत कर उनके साम्य-वैषम्य का स्पष्ट निदर्शन किया है। इन विद्वानों मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पं. रामदहिन मिश्र, प्रो गुलाबराय, डॉ. सत्येन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा एवं मूर्धन्य आलोचक डॉ. नगेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी स्तर के अन्य भी सैकडो आलोचक आज अपना स्थान हिन्दी साहित्य मे बनाये हुए हैं।

(7) आलोचना के प्रकार

ज्ञान की परिधि और चिन्तन के क्षेत्र मे ज्यो-ज्यो विस्तार एव अभिवृद्धि होती है, त्यों-त्यों आलोचना के प्रकारो में वृद्धि होती चली जाती है। ज्ञान एक गतिशील प्रक्रिया है। वह कभी भी स्थिर एवं जड़ नही होती। फलतः उसके

विस्तार का अर्थ होता है उसकी विभिन्न धाराओं का विस्तार। प्राचीन काल को जब हम आज के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में कुछ धाराओं में विभक्त ज्ञान आज असंख्य धाराओं में विभक्त होकर प्रवहमान है। इस गतिशील प्रक्रिया से साहित्यिक आलोचना अस्पृष्ट कैसे रह सकती थी। फलतः यह अनेक धाराओं में बहने लगी। आलोचना साहित्य की व्याख्या है तो साहित्य जीवन की व्याख्या है। आज के इस यान्त्रिक युग मे जीवन जीने की अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष धाराएँ निरापद भाव से चल रही हैं। कवि जीवन की किसी अथवा किन्हीं धाराओं को अपने काव्य का विषय बना सकता है: इसके लिए वह स्वतन्त्र है। फलस्वरूप आलोचक उन्हीं धाराओं के आधार पर काव्य की व्याख्या करना चाहता है और परिणामस्वरूप आलोचना के अनेक प्रकार प्रकाश में आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में सिद्धान्तवादी आलोचक उन धाराओं के साम्य-वैषम्य को ध्यान में रखते हुए उन्हें कम से कम वर्गों में विभाजित करना चाहता है, जिससे आलोचना साहित्य का अध्ययन अधिक सरल एवं सुविधाजनक हो सके। यदि ऐसा नहीं किया जाय तो आलोचना के असंख्य प्रकार टिमटिमाने लगेंगे और इसका यह क्रम कहीं भी नहीं रुक पाएगा। इस आधार पर विद्वानों ने आलोचना को मुख्यतः दस वर्गों में विभाजित किया :—(1) सैद्धान्तिक आलोचना, (2) निर्णयात्मक आलोचना, (3) व्याख्यात्मक आलोचना, (4) ऐतिहासिक आलोचना, (5) प्रभाववादी आलोचना, (6) तुलनात्मक आलोचना, (7) मनोवैज्ञानिक आलोचना, (8) गणित चरित मूलक आलोचना, (9) मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना और (10) अस्तित्ववादी आलोचना।

(1) सैद्धान्तिक आलोचना :—भारतीय मनीषियों ने सिद्धान्त की परिभाषा इस प्रकार की है कि प्रामाणिक रूप से स्वीकार किये जाने वाले अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं। यथा :—प्रामाणिकलेनाम्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया जाता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों एवं पाश्चात्य कला समीक्षकों ने अपने समकालिक काव्य-ग्रन्थों को आदर्श मान कर काव्य-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों की स्थापना की जो आजकल भी किसी न किसी रूप में मान्यता प्राप्त हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा में वस्तुतः काव्य के रूपों, काव्य के तत्वों, काव्यांगों, काव्य के हेतु, प्रयोजन, काव्य के लक्षण, काव्य के स्वरूप, काव्य-पद्धतियों, काव्य-शिल्प आदि का निर्धारण किया जाता है। जब कोई सर्जक कलाकार किसी कालजयी कृति का निर्माण करता है तो सैद्धान्तिक समीक्षक के लिए वह एक आदर्श कृति हो जाती है तथा उसके आधार पर ही वह काव्य सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तो की स्थापना करता है जो आगे आने वाले कलाकारों एवं आलोचकों का मार्ग-दर्शन करता है। संस्कृत साहित्य में भरत, दण्डी, भामह, मम्मट, विश्वनाथ आदि सैद्धान्तिक समालोचक ही कहे जा सकते हैं तो पाश्चात्य समीक्षा मे अरस्तू, लोंजाइनस, पोप, आई. ए. रिचर्ड्स, टी.

एस. इलियट आदि सैद्धान्तिक समीक्षक हैं। हिन्दी में आचार्य शुक्ल डॉ श्याम सुन्दरदास, डॉ नगेन्द्र प्रभृति विद्वान् भी सैद्धान्तिक समीक्षक कहे जा सकते हैं।

सैद्धान्तिक समीक्षा मे इस बात का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए कि वह किसी कृति पर परम्परागत सिद्धान्तों को कट्टरता से लागू न करे। कवि या कलाकार अपने युग और प्रतिभा के अनुसार काव्य को नयी दिशा देने का प्रयास करता है। उस प्रयास मे वह पुरातन परम्परा से विलग हो जाता है। यदि यह पार्थक्य स्थायी एव मूल्यवान् होता है तो सैद्धान्तिक समीक्षक को उसके आधार पर नव सिद्धान्तों की स्थापना कर देनी चाहिए क्योंकि परम्परागत सिद्धान्तों में यदि परिवर्तन, परिवर्धन, परिष्कार नही होता रहेगा तो साहित्य की गति अवरुद्ध हो जाएगी अथवा साहित्यकार सिद्धान्तों की उपेक्षा करने लगेगा। फलतः सैद्धान्तिक आलोचना सारहीन हो जाएगी। उदाहरणार्थ, यदि हम परम्परागत रस सिद्धान्त के आधार पर आज की नयी कविता का मूल्याङ्कन करेंगे तो न तो उस कविता के साथ न्याय होगा और न ही हमारे हाथ कुछ आएगा। अतः स्पष्ट है कि साहित्य के सिद्धान्त लचीले और युगानुरूप होने चाहिए।

सैद्धान्तिक आलोचना की उत्कृष्टता सर्जनात्मक साहित्य की उत्कृष्टता पर निर्भर करती है क्योंकि सर्जनात्मक साहित्य जितना उत्कृष्ट होगा उसके आधार पर स्थापित किये गये सिद्धान्त भी उतने ही उत्कृष्ट होंगे। इसका तात्पर्य यह है कि आलोचक द्वारा स्थापित सिद्धान्त कल्पना के आधार पर तैयार नही किये जाते वल्कि तद्युगीन सर्जनात्मक साहित्य के गम्भीर एवं सूक्ष्म विश्लेषण—मन्थन के पश्चात् उपलब्ध सार-तत्त्वों को ही सिद्धान्त का स्वरूप प्रदान किया जाता है।

सिद्धान्तों की स्थापना लक्ष्य-ग्रन्थों के साथ-साथ लोक-रुचि के आधार पर भी की जाती है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि के सन्दर्भ में लोक-जीवन क्या चाहता है? सिद्धान्तवादी आलोचक को इसका भी ध्यान रखना चाहिए और तद्नुरूप सिद्धान्तों की स्थापना करनी चाहिए। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र मे इस प्रक्रिया को अपनाया गया है।

सैद्धान्तिक आलोचना में सिद्धान्त—वैविध्य पाया जाता है। इस से कुछ विद्वान् हड़बडा जाते हैं कि जब लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर ही सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है तो फिर इन मे विविधता क्यों? इसके भी कुछ कारण हैं जैसे, यह आवश्यक नही कि एक सिद्धान्त के समाप्त होने पर ही दूसरे सिद्धान्त का उदय हो। फलतः एक ही समय मे अनेक सिद्धान्तों का प्रचलन हो जाता है। इसके दो प्रमुख कारण हैं :—(1) दृष्टिभेद और (2) साहित्य भेद। एक ही कृति को अनेक आलोचक अपनी-अपनी दृष्टि से आलोचना का विषय बनाते हैं और उन्हीं आधारों पर सिद्धान्तो की स्थापना कर देते हैं। कोई आलोचक किसी कृति को रस निरूपण को दृष्टि से आंकता है तो कोई उसमे अलकार सौन्दर्य की मनोरम झांकी के दर्शन करता

है तो कोई उसकी शिल्पचारुता में खो जाता है तो कोई उसमे अंकित जीवन दर्शन की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगता है तो किसी को काव्यान्वित सांस्कृतिक निरूपण अपनी ओर आकृष्ट करता है। परिणामस्वरूप तदनुरूप अनेक सिद्धान्त प्रकाश मा जाते हैं।

साहित्य भेद के कारण भी सिद्धान्तो में विविधता आ जाती है। संवादों का नाटक में जितना महत्त्व है उतना काव्य की अन्य विधाओ में नही है। प्रबन्ध काव्य में वस्तु का महत्त्वपूर्ण स्थान है तो मुक्तक मे भाव निरूपण का। इसी के साथ सम-सामयिक परिस्थितियाँ तथा अन्य भाषाओ के साहित्य से सम्पर्क भी विभिन्न प्रकार की साहित्यिक विधाओं का जन्मदाता बन जाता है। इस विभिन्नता के आधार पर सुधी आलोचक को भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्तो की स्थापना करनी पड़ती है। सिद्धान्त वैविध्य के यही कारण हैं।

(2) निर्णयात्मक आलोचना —निर्णयात्मक आलोचना का मुख्य आधार है आलोचनात्मक सिद्धान्त। जब आलोचक किसी कृति पर किसी भी प्रकार का अपना निर्णय देता है तो उसका कोई न कोई आधार होता है। ये आधार दो प्रकार के हो सकते हैं—(1) सैद्धान्तिक आधार और (2) प्रभावात्मक आधार। सैद्धान्तिक आधार कुछ सीमा तक उचित एवं संगत है क्योकि जिन आदर्श कृतियो को दृष्टि में रख कर काव्य-मर्मज्ञों ने सिद्धान्तों की स्थापना की है वे कालजयी कृतियाँ होती हैं। अतः उन्ही सिद्धान्तो के आधार पर आलोचक किसी कृति का सफलता या असफलता का अथवा श्रेष्ठ निकृष्ट मध्यम आदि कोटियो का निर्णय देता है। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि इस प्रसंग में निर्णायक आलोचक सैद्धान्तिक आलोचक भी बन जाता है। उदाहरणार्थ, जब कोई आलोचक किसी कृति को एक आदर्श एवं कालजयी कृति मानता है किन्तु उपलब्ध सिद्धान्तो के आधार पर वह खरी नही उतरती है तो निर्णायक आलोचक को तदनुरूप नवीन सिद्धान्तो की स्थापना करनी पड़ती है और उनके आधार पर ही वह आलोच्य कृति पर अपना निर्णय दे पाता है। इसका तात्पर्य यह नही है कि उस कृति में कोई कमी होती है अथवा कोई आलोचक किसी कृति को बलात् उत्कृष्ट कोटि की या निकृष्ट कोटि की रचना सिद्ध करना चाहता है बल्कि उसका कारण होता है समय का लम्बा अन्तराल। सिद्धान्त पुराने पड चुके होते हैं और कृति नवीन होती है। कृति के निर्माण के समय तक जीवन के मूल्यों में पर्याप्त परिवर्तन आ चुका होता है। फलत. तत्कालीन कृति पुराने सिद्धान्तों के अनुरूप अपने आपको ढालने मे असमर्थ पाती है। स्व जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी' महाकाव्य के साथ यही हुआ। पुरातन सिद्धान्तों एव नैतिकता के प्रबल समर्थक आचार्य शुक्ल उसे महाकाव्य मानने को अन्त तक तैयार नहीं हुए क्योकि वह उपलब्ध सिद्धान्तो पर खरी नही उतरती थी। इसके विपरीत डॉ. नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र प्रभृति आचार्यों ने उसे एक उत्कृष्ट कोटि के सफल महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित किया।

निर्णयात्मक आलोचना में 'दो या दो से अधिक कवियों या कथाकारों में से कौन ऊँचा है और कौन नीचा है' का प्रसंग नहीं आता। एक तो यह तुलनात्मक आलोचना का कार्यक्षेत्र है। दूसरे, निर्णय का यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि उसमें यह बताया जाय कि कौन छोटा है और कौन बड़ा है। निर्णयात्मक आलोचना का कार्यक्षेत्र केवल इतना ही है कि वह मान्य सिद्धान्तों के आधार पर यह निर्णय दे कि कोई कृति मान्य सिद्धान्तों की अनुपालन एवं सामयिक जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति में कहाँ तक सफल और कहाँ तक असफल रही है। इस प्रकार निर्णायक आलोचक न तो परीक्षक की तरह किसी कृति को अंक प्रदान करता है और न ही किसी दण्डनायक की तरह कृति किसी को दण्डित या पुरस्कृत करता है।

निर्णयात्मक आलोचना का दूसरा आधार है प्रभावात्मकता। जहाँ तक दूसरे प्रकार का सम्बन्ध है वह असंगत एवं अनुचित है। जब कोई आलोचक किसी कृति के उस पर पड़े हुए प्रभाव के आधार पर निर्णय दे देता है तो वह निर्णय दोषपूर्ण एवं आलोचक की स्वरुचि का ही परिचायक होगा न कि एक स्थायी और सार्वजनीन निर्णय होगा। यह सही है कि निर्णय देते समय आलोचक की व्यक्तिगत रुचि एव अरुचि के प्रवेश की पूर्ण सम्भावनाएँ बनी रहती हैं किन्तु ऐसी स्थिति मे आलोचक को बडी सजगता के साथ अपनी रुचि को संयत रखते हुए काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो के सन्दर्भ में ही अपने मत को व्यक्त करना चाहिए। दूसरे, आलोचक के मन में कृति के अध्ययन के पश्चात् होने वाली प्रतिक्रियाओं को ही प्रमाण मान लेना प्रभावात्मक आलोचना का गुण है, निर्णयात्मक आलोचना में विद्वत्सम्मत सैद्धान्तिक मान ही प्रमाण माने जा सकते हैं।

संक्षप मे यह कहा जा सकता है कि निर्णयात्मक आलोचना जहाँ एक ओर मान्य सिद्धान्तों को प्रमाण मान कर चलती हैं वहाँ उसका यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि कृतिकार ने कहीं शाश्वत मूल्यो का अवमूल्यन तो नहीं कर दिया है। साथ ही वह यह भी देखने का प्रयास करे कि कृतिकार ने अपने युग का चित्रण करने मे अथवा युगीय मूल्यो के निदर्शन में सकोच तो नहीं किया है। वास्तविकता यह है कि निर्णायक आलोचक काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो के सन्दर्भ में कृति में सन्निहित सार्वभौम एवं सार्वजनीन शाश्वत मूल्यों को भी देखना-चाहता है और उसके पश्चात् वह कृति के पक्ष अथवा विपक्ष मे अपना निर्णय देता है।

(3) 'व्याख्यात्मक' आलोचना :—आचार्य शुक्ल व्याख्यात्मक आलोचना के उन्नायक आलोचक माने जाते हैं। व्याख्यात्मक आलोचक वह होता है जो किसी कृति के अन्तस्तल मे प्रविष्ट होकर उस के सार-तत्त्व को ग्रहण कर उसकी भाव और शिल्प के आधार पर व्याख्या करता है। इस प्रकार की आलोचना के अन्तर्गत आलोचक कवि के रचनागत भावो के अनुसन्धान और विवेचन-विश्लेषण की शैली को अपनाता है। इसमें आलोचक पूर्णत: तटस्थ भाव से प्रभावात्मक एवं निर्णयात्मक

आलोचना से मुक्त होकर कवि द्वारा व्यक्त भाव जगत् को भाषा के आधार पर स्पष्ट कर निर्णय का कार्य पाठकों पर छोड़ देता है। इस प्रकार की आलोचना में न तो किसी पूर्वाग्रह का दवाव रहता है और न ही निर्धारित काव्य-सिद्धान्तों की कट्टरता का आग्रह। हाँ ! यथावश्यकता आलोचक काव्य-सिद्धान्तो का आश्रय अवश्य लेता है।

व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक को सौन्दर्य शास्त्र का ज्ञाता एव अन्य सम्बद्ध ज्ञान की प्रमुख धाराओं का जानकार अवश्य होना चाहिए, तभी वह कवि के भाव सौन्दर्य को स्पष्ट करने में सक्षम हो पाएगा। सम्भवतः इसी आधार पर कतिपय विद्वान् शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, चरितमूलक आदि आलोचनाओं को व्याख्यात्मक आलोचना के ही अंग मानते हैं किन्तु यह उचित नही है। कारण स्पष्ट है कि व्याख्यात्मक आलोचना मे उक्त आलोचनाओं से सम्बद्ध शास्त्रो एव तत्त्वो का अपनी बात स्पष्ट करने के लिए आश्रय तो लिया जाता है किन्तु उन तत्त्वों की उसमें प्रधानता नही होती जब कि उक्त आलोचनाओं मे सम्बद्ध शास्त्रो के सिद्धान्तो के आधार पर आलोच्यकृति का मूल्याङ्कन किया जाता है। यों तो ज्ञान की विभिन्न धाराओं के मध्य कोई कठोर अन्तर-रेखा नही खीची जा सकती। ज्ञान की प्रत्येक धारा किसी न किसी रूप में परस्पर आबद्ध रहती है फिर भी वह किसी एक का अंग नही होती बल्कि उनकी स्वतन्त्र स्थिति सर्वमान्य रहती है।

व्याख्यात्मक आलोचना और निर्णयात्मक आलोचना मे कभी-कभी साम्य प्रतीत होने लगता है किन्तु बात ऐसी नही है। यह सही है कि दोनो एक दूसरे की पूरक होती हैं क्योंकि काव्य की जब तक स्पष्ट व्याख्या प्रकाश में नही आती तब तक उस पर दिया गया निर्णय पूर्णतया सही नही होता और उधर व्याख्यात्मक आलोचना में भी यत्किञ्चित् सिद्धान्तों का आश्रय तो लेना ही पड़ता है। इस रूप में ये आलोचनाएँ एक दूसरे की पूरक तो होती है किन्तु एक नही होती। प्रसिद्ध आलोचक मोल्टन (Moulton) ने व्याख्यात्मक आलोचना और निर्णयात्मक आलोचना में तीन प्रकार के भेदों का वर्णन किया है :—पहला भेद तो यह है कि निर्णयात्मक आलोचना काव्य को उत्तम, मध्यम, अधम जैसी श्रेणियों में विभाजित करती है जबकि व्याख्यात्मक आलोचना इस प्रकार का कोई श्रेणी विभाजन नही करती बल्कि वह (काव्य) जैसा है वैसा ही उसे स्पष्ट कर देती है और निर्णय लेने का काम पाठको पर छोड़ देती है।

दोनों आलोचनाओं में दूसरा भेद यह है कि निर्णयात्मक आलोचना मे आलोचक काव्य-शास्त्र के नियमों पर किसी कृति का कट्टरता से मूल्याङ्कन करता है और उन्हे किसी अधिकार से दिया हुआ रूप मानता है। फलतः वह उन नियमों का कट्टरता से पालन करता है जब कि व्याख्यात्मक आलोचना में काव्य-शास्त्रीय नियमों की अनुपालना तो की जाती है किन्तु उसमें अधिकार या कट्टरता जैसी बात नहीं

होती। वह सभी कृतियों या कवियों को नियम की एक लाठी से नहीं हाँकती बल्कि कवि या कलाकार के आत्मभाव और उसकी धारणाओं का भी आकलन करती है।

दोनों में तीसरा भेद यह है कि निर्णयात्मक आलोचना नियमों को अगतिशील बनाती है और व्याख्यात्मक आलोचना उन्हें प्रगतिशील बनाती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्याख्यात्मक आलोचना में प्रभावात्मक आलोचना की व्यक्तिगत अभिरुचि का अभाव और निर्णयात्मक आलोचना की श्रेणिविभाजन की उपेक्षा रहते हुए उसमें अनुसन्धानपरक दृष्टि, नियमों की प्रगतिशीलता में आस्था तथा पूर्वाग्रह से मुक्त विश्लेषणात्मक शैली का प्राधान्य रहता है।

(4) ऐतिहासिक आलोचना :—ऐतिहासिक आलोचना साहित्यकार के साथ न्याय करने के लिए परमावश्यक है क्योंकि साहित्यकार का निर्माण उस युग की परिस्थितियाँ करती हैं जिनमें वह सांस लेता है। विश्व-साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि कवियों के व्यक्तित्व का निर्माण उस युग की परिस्थितियों ने किया है। इस युग में अर्थात् आज के इस यान्त्रिक युग में न पैराडाइज लोस्ट लिखा जा सकता है और न इलियड ओडेसी की रचना ही सम्भव है। इसी प्रकार भारत में आज न तो रामायण का सर्जन हो सकता है और न ही रामचरित मानस या सूरसागर जैसी कृतियों का आविर्भाव ही। ठीक इसी प्रकार यान्त्रिक युग के तनावों से पीड़ित नया कवि या मार्क्स के विचारों से अभिभूत प्रगतिवादी कवि भक्ति की पावन गंगा में अपने आपको निमग्न नहीं कर सकता क्योंकि आज की और भक्तिकाल की परिस्थितियों में एवं तात्कालिक सामाजिक परिवेश में बड़ा भारी अन्तर है। भक्तिकाल में भावना के माध्यम से समस्या के निराकरण का प्रयत्न किया जाता था तो आज के युग में बुद्धि के माध्यम से समस्या का निराकरण किया जाता था। उस समय सहायता के लिए भगवान् को पुकारा जाता था तो आज का व्यक्ति विद्रोह, असहयोग, आन्दोलन का सहारा लेता है। फलतः कवि भी इन धारणाओं को अपनी वाणी का विषय बना कर शेष समाज का मार्ग-दर्शन करता है। जब यह तथ्य स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर स्पष्ट हो जाता है कि हम रामचरितमानस का मूल्यांकन आज के परिप्रेक्ष्य में [illegible] में वर्ण-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने पर जितना बल [illegible] अर्थ नहीं रह गया है बल्कि आज का प्रत्येक [illegible] विरोधी है।

उपर्युक्त विवेचन का ता[illegible] ही कवि का व्यक्तित्व अपने युग की [illegible] नि[illegible] व्यक्तित्व की सम्यक् अभिव्यक्ति [illegible]

कदापि नहीं है कि कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही तात्कालिक परिस्थितियों का परिणाम होता है। इसके निर्माण में अन्य अनेक तत्त्व भी सक्रिय रहते हैं। उन तत्वों के आधार पर भी कवि या कृति का विवेचन किया जाता है। उन विवेचनो को जीवन-चरित मूलक आलोचना और मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के नामों से जाना जाता है। ऐतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत आलोचक तात्कालिक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि समस्त परिस्थितियों का अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहराई के साथ अध्ययन करता है और फिर उसी परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कृति का विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक आलोचना मे इस बात पर भी प्रकाश डाला जाता है कि कोई कृति किस सीमा तक अपनी परिस्थितियो से प्रभावित है और उस प्रभाव के परिणाम-स्वरूप उसमें भावी समाज या युग के लिए किस सीमा तक प्रेरणा या मार्ग-दर्शन का भाव सन्निहित है। किसी कवि या कृति पर तात्कालिक आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि परिस्थितियों मे सर्वाधिक प्रभाव कौनसी परिस्थिति का पडा है अथवा समन्वित प्रभाव पड़ा है आदि का लेखा-जोखा भी ऐतिहासिक आलोचना मे किया जाता है। रामचरितमानस पर धार्मिक, राजनैतिक एव साहित्यिक परिस्थितियों का समन्वित प्रभाव है तो सूरसागर पर केवल धार्मिक परिस्थितियों का ही प्रभाव है। उधर बिहारीदेव, भूषण, घनानन्द आदि कवियो के व्यक्तित्व पर तात्कालिक परिस्थितियों का प्रभाव तो है किन्तु प्रधानता भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की है।

ऐतिहासिक आलोचना मे कुछ कमियाँ या त्रुटियां भी दृष्टिगत होती हैं। एक तो यह कि आलोचक इतिहास के कान्तार में इतना खो जाता है कि कवि या साहित्यकार का व्यक्तित्व तो पूर्णतः उपेक्षित हो ही जाता है किन्तु साथ ही आलोच्य कृति भी गौण हो जाती है क्योंकि परिस्थितियों एवं परिप्रेक्ष्य का गम्भीर विवेचन एवं विश्लेषण ही आलोचक का प्रमुख उद्देश्य बन बैठता है। दूसरे, आलोचक यह स्पष्ट करने से भी चूक जाता है कि कवि ने तत्कालीन समाज को कहाँ तक प्रभावित किया है क्योंकि वह तो कृति पर परिस्थितियों की छाप भर देखने में व्यस्त रहता है।

(5) प्रभाववादी आलोचना—कतिपय विद्वान् इसी आलोचना को आत्म-प्रधान आलोचना भी कहते हैं। प्रो० गुलाबराय के अनुसार गणनाक्रम मे आत्मप्रधान या प्रभाववादी आलोचना का ही प्रथम स्थान आता है। सर्वप्रथम हम कृति से प्रभावित होते हैं और अपने प्रभाव को अपने शब्दो मे व्यक्त कर देते हैं। शेष अन्य प्रकार की आलोचनाओं का विकास धीरे-धीरे परिस्थितिजन्य रूप मे हुआ है। आत्म-प्रधान आलोचना में आलोचक की रुचि ही प्रधान होती है। किसी कृति को पढ़ने या सुनने के पश्चात् आलोचक पर जो प्रभाव पड़ा और उसके अन्तःकरण में जो

प्रतिक्रियाएँ हुई उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति ही प्रभाववादी आलोचक का प्रमुख ध्येय होता है। इस प्रकार की आलोचना में सिद्धान्तों को घत्ता वता दी जाती है तथा सम्बद्ध ज्ञान की अन्य धाराएँ अपना महत्त्व खो बैठती हैं। अनेक बार तो ऐसा होता है कि स्वयं कृति ही तिरोहित हो जाती है और आलोचक की अभिरुचि ही सर्वेसर्वा हो जाती है। हिन्दी साहित्य में शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रमुख प्रभाववादी आलोचक कहे जाते है। इस प्रकार की आलोचना के पक्षधरों का कथन है कि काव्य का महत्त्व इस वात में निहित है कि वह किसी सहृदय सामाजिक को कैसी लगी—अच्छी या बुरी। कृति की सफलता या असफलता का प्रमाण वे अपने अन्तःकरण को मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे किन्ही भी प्रकार के सिद्धान्तो आदि में विश्वास नहीं रखते और न ही स्वअन्तःकरण से अधिक किसी अन्य कसौटी की प्रवलता में विश्वास रखते।

उपरिकथित आलोचना का सब से वड़ा दोष यह है कि इसमे व्यक्ति विशेष की अभिरुचि का प्रामुख्य रहने के कारण पक्षपात की प्रवल सम्भावना वनी रहती है। दूसरी ओर आलोचक की अवस्था (वय) का भी प्रभाव इस प्रकार की आलोचना पर पड़े विना नही रहता क्योंकि उसकी रुचियो पर यौवन और वार्धक्य का आच्छादन पड़ता एवं हटता रहता है। यौवन में रीतिकाल की कविता अधिक आकृष्ट करेगी तो वृद्धावस्था में इस प्रकार की कविताओ के प्रति अरुचि या विरति का होना स्वाभाविक होगा। तीसरे, रुचियो पर संस्कार और वातावरण का प्रभाव भी पड़े विना नहीं रह सकता। फलतः आलोचक की रुचि वय, संस्कार और वातावरण से आच्छादित रहने के कारण उसकी प्रतिक्रियाएँ कहाँ तक कृति के साथ न्याय कर पाएँगी, यह केवल चिन्ता का ही विषय है।

सैद्धान्तिक आलोचना में अथवा व्याख्यात्मक आलोचना में नियमो की लगभग निश्चितता रहने के कारण इस प्रकार की आलोचनाओं में जहाँ प्रायः एकरूपता रहती है वहाँ पर प्रभाववादी आलोचना में विभिन्न आलोचकों की व्यक्तिगत अभिरुचियाँ भिन्न-भिन्न होने के कारण उनकी प्रतिक्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न होंगी। दूसरे, परम्परागत सिद्धान्तों के प्रति झुकाव न होने की स्थिति मे आलोचना में अनौचित्य के प्रवेश की भी सम्भावना बनी रहती है फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की आलोचना पद्धति स्वाभाविक एवं हृदय अथवा भावों की प्रमुखता रहने के कारण सम्माननीय है। अतः इसकी स्वतन्त्र सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

(6) तुलनात्मक आलोचना—यह भी आलोचना का एक प्रकार है। इसमें दो या दो से अधिक कवियों या कृतियों को समान धरातल पर रख कर उनके काव्य-सौन्दर्य का विवेचन या विश्लेषण किया जाता है तथा उनके साम्य-वैषम्य को स्पष्ट किया जाता है। आग्ल भाषा के आचार्य प्रो० मॅन्ट्‌गमवरी इस प्रकार की आलोचना के

प्रबल समर्थक हैं। आपका कथन है कि कवियों का तुलनात्मक अध्ययन ही उनकी सर्वोच्च आलोचना है।[1] हिन्दी साहित्य में मिश्रबन्धुओं ने तुलनात्मक आलोचना की आधारशिला रखी थी किन्तु इस में आलोचना पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण तत्कालीन आलोचना ने एक भद्दा एवं असंगत रूप धारण कर लिया था क्योंकि उनका लक्ष्य येन-केन प्रकारेण किसी कवि विशेष या कृति विशेष को उच्च या निम्न सिद्ध करना था। फलतः वे तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र को पार कर कभी निर्णयात्मक आलोचना के क्षेत्र या प्रभाववादी आलोचना के क्षेत्र में घुस गये थे। इसके पश्चात् तुलनात्मक आलोचना का सही स्वरूप आचार्य शुक्ल की आलोचना में कुछ निखार के साथ उभर कर आया है।

कतिपय विद्वान् तुलनात्मक आलोचना को एक स्वतन्त्र वर्ग में रखने से इन्कार करते हैं। उनके अनुसार तुलनात्मक आलोचना को व्याख्यात्मक या निर्णयात्मक आलोचना के अंग के रूप में ही देखा जाना चाहिए किन्तु यह उचित नहीं है। तुलनात्मक आलोचना भी आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण भेद है। इसके माध्यम से पाठक को दो या दो से अधिक कवियों के काव्य-सौन्दर्य का एक साथ आस्वादन ही नहीं कराया जाता बल्कि एक दूसरे पर पड़े प्रभावों का ज्ञान भी पाठक को कराया जाता है। जब यही तुलना भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवियों की की जाती है तब पाठक का अपनी भाषा की काव्य-सीमा और दूसरी भाषा की काव्य-प्रवृत्तियों से परिचय होता है जो अत्यन्त आनन्द-दायक होता है। तुलसी और मिल्टन, शैली और पन्त, टी एस. इलियट और अज्ञेय के तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त प्रेरक एवं आनन्ददाता रहे हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा सूर, तुलसी केशव बिहारी, आदि पर की गयी तुलनात्मक टिप्पणियाँ भी स्तुत्य हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलनात्मक आलोचना-आलोचना साहित्य को एक नया आयाम प्रदान करती है। इस आलोचना के आधारभूत विन्दुओं में सैद्धान्तिक और व्याख्यात्मक आलोचना को सरलता से परिगणित किया जा सकता है।

(7) मनोवैज्ञानिक आलोचना—कतिपय विद्वान् मनोवैज्ञानिक आलोचना को मनोविश्लेषणात्मक आलोचना कहना अधिक युक्ति संगत मानते हैं। यों तो प्राचीन भारत में उद्गमित एवं मध्यकाल में पल्लवित पुष्पित रस सिद्धान्त का आधार भी मनोविज्ञान ही है किन्तु आजकल हम जिस मनोविज्ञान की बात करते हैं वह फ्रायड, एडलर और युंग की देन है। इन विद्वानों द्वारा की गयी मन की वैज्ञानिक व्याख्या ही आज की हमारी मनोवैज्ञानिक आलोचना का आधार है। फ्रायड का अभिमत है कि 'साहित्य अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का साधन है। यह वाक्य एक ऐसा वाक्य है जिसने साहित्य में मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक आलोचना को जन्म दिया। अतः स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना में प्रविष्ट होने से पूर्व आलोचक को मनोविज्ञान के प्रमुख ग्रन्थों का अध्ययन एवं

---

1. Comparative mode of criticism is the highest mode of Judgement.

इसके साथ ही मनोविज्ञानवेत्ताओं ने मनुष्य में तीन मूलभूत जन्मजात प्रवृत्तियों की स्थिति को स्वीकार किया है वैसे तो आज यह संख्या चौदह तक पहुँच चुकी है—यथा : (1) दमित वासना की अभिव्यक्ति (2) हीन ग्रन्थियों से विमुक्ति की इच्छा और (3) जीवित रहने की महती आकांक्षा। मनोवैज्ञानिक आलोचक अपनी मान्यताओं के अनुसार इन्हीं मूल प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कृति का विवेचन करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं मनोवैज्ञानिक आलोचना में आलोचक कवि के वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आन्तरिक एवं निजी अनुभूतियों में उसकी कृति के मूल भाव को खोजने का प्रयास करता है।

लगे हाथों यह स्पष्ट कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि जीवन चरित मूलक आलोचना और मनोवैज्ञानिक आलोचना में क्या अन्तर है ? दोनों ही प्रकार की आलोचनाओं में कवि के व्यक्तित्व पर बल दिया जाता है किन्तु जीवन-चरित मूलक आलोचना में जहाँ कवि के जीवन से सम्बद्ध बाह्य घटनाओं, पारिवारिक परिवेश एवं सगे सम्बन्धियों के वातावरण के अध्ययन को लेखनी का विषय बनाया जाता है वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना में कवि के मन स्तरों का अन्वीक्षण कर उसके मन की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। दूसरे, जीवन-चरित मूलक आलोचना में कवि के जीवन के माध्यम से कृति तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना में कृति के माध्यम से कवि के अन्तस्तल तक पहुँचने का प्रयत्न निहित रहता है।

(8) जीवन-चरित मूलक आलोचना—जैसा कि आलोचना के नामकरण से ही स्पष्ट है, इस प्रकार की आलोचना पद्धति में कवि के जीवन-चरित्र को विशेष महत्त्व दिया जाता है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि किसी भी कृति के पूर्ण ज्ञान के लिए कृति कार के जीवन की प्रमुख घटनाओं-मुख्यतः कवि के जीवन को जिन घटनाओं ने अत्यधिक प्रभावित किया है, की जानकारी परमावश्यक है। यहाँ पर ऐतिहासिक आलोचना और जीवनचरित मूलक आलोचना के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। ऐतिहासिक आलोचना में तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की जानकारी पर अधिक बल दिया जाता है जो अपने युग के समस्त समाज को येन-केन प्रकारेण प्रभावित करती हैं जब कि जीवनचरित मूलक आलोचना में कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध घटनाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् 'सैन्ट व्यव' जीवनचरित मूलक आलोचना के प्रबल समर्थक हैं। आपके अनुसार जिस प्रकार फल को जानने के लिए पेड़ को जानना आवश्यक है उसी प्रकार किसी कृति की सम्यक् जानकारी प्राप्त करने के लिए कृति-कार के जीवन की जानकारी प्राप्त करना भी आवश्यक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'सैन्ट व्यस' के लिए साहित्य की तुलना में साहित्यकार का जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आप यह मान कर चलते हैं कि साहित्यकार के जीवन की

मनन कर लेना चाहिए और मन के विभिन्न स्तरों एवं उनकी गहराइयों को भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक आलोचना के अन्तर्गत आलोचक कवि के व्यक्तित्व एवं उसके मनः स्तरों का अन्वेषण करता है। एक प्रकार से यह आलोचना पद्धति प्रभावात्मक आलोचना का विपरीत विन्दु है। प्रभावात्मक आलोचना में आलोचक कृति के अध्ययन और मनन के पश्चात् उस के (आलोचक के) मन पर पड़े प्रभावों को व्यक्त करता है तो मनोवैज्ञानिक आलोचना में आलोचक कवि के मानसिक स्तरों विशेष कर उसके उपचेतन मन का सूक्ष्म एव गम्भीर अध्ययन कर उसके प्रभावों का कृति मे अन्वेषण करता है। मनोवैज्ञानिक आलोचक की यह धारणा है कि कवि ने अपने काव्य में जो कुछ व्यक्त किया है उसे कवि या तो अपने जीवन मे भोग चुका है अथवा यह उसकी दमित भावनाओ का परिणाम है। फलतः मनोवैज्ञानिक आलोचक इन दो आधारो पर ही किसी कृति का विवेचन, विश्लेषण अथवा मूल्याङ्कन करता है।

इस प्रकार की आलोचना मे आलोचक के समक्ष दो बिन्दु रहते हैं— (1) कवि का व्यक्तित्व और (2) कवि द्वारा निर्मित पात्र। जहाँ तक कवि के व्यक्तित्व का प्रश्न है, आलोचक कवि की अन्तर्ग्रन्थियो के आधार पर ही काव्य का विश्लेषण करता है। दूसरे, आलोचक कृति के आधार पर कवि के अन्तश्चेतन जगत् में प्रवेश कर कवि के व्यक्तित्व को समझने का प्रयास करता है और कवि या कथाकार द्वारा जिन पात्रो की सृष्टि की गयी है उनके क्रियाकलापों या क्रिया प्रतिक्रियाओं द्वारा कवि के व्यक्तित्व का एक विम्ब प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही वह (आलोचक) उन पात्रों की गति-विधियो का भी मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर आकलन एव विश्लेषण करता है। किसी पात्र की कोई क्रिया या उसका चारित्रिक विकास मनोविज्ञान के मान्य सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है अथवा कवि केवल अपनी इच्छानुसार ही उनका संचालन कर रहा है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक तात्कालिक परिस्थितियों का भी पृष्ठभूमि के रूप में आश्रय ग्रहण करता है।

उपर्युक्त आलोचना मे उपचेतन मन को समझने का अधिक प्रयास किया जाता है क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार जब हम अपनी किन्ही इच्छाओं की सम्पूर्ति मे असफल रह जाते हैं अथवा अहम् के द्वारा उन्हे दवा दिया जाता है तो वे उपचेतन मन मे आश्रय ग्रहण कर लेती है और कुछ समय पश्चात् विभिन्न कुण्ठाओं का रूप धारण कर लेती हैं। अवसर पा कर यही दमित वासनाएँ-इच्छाएँ स्वप्न, साहित्य या अन्य ललित कलाओ के रूप में प्रस्फुटित होती है। ऐसा न होने पर व्यक्ति या तो कुण्ठाग्रस्त हो जाता है या फिर विक्षिप्त। मनोवैज्ञानिक आलोचक इसी उपचेतन मन में निवसित वासनाओ की जानकारी प्राप्त कर किसी कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण कर उसके आधार पर उस की कृति का मूल्यांकन करता है या फिर [illegible] में अभिव्यक्त भावो के परिप्रेक्ष्य में कवि के मानसिक स्वरूप को स्पष्ट करता है।

इसके साथ ही मनोविज्ञानवेत्ताओं ने मनुष्य में तीन मूलभूत जन्मजात प्रवृत्तियों की स्थिति को स्वीकार किया है वैसे तो आज यह संख्या चौदह तक पहुँच चुकी है—यथा : (1) दमित वासना की अभिव्यक्ति (2) हीन ग्रन्थियों से विमुक्ति की इच्छा और (3) जीवित रहने की महती आकांक्षा। मनोवैज्ञानिक आलोचक अपनी मान्यताओं के अनुसार इन्हीं मूल प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कृति का विवेचन करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं मनोवैज्ञानिक आलोचना में आलोचक कवि के वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आन्तरिक एवं निजी अनुभूतियों में उसकी कृति के मूल भाव को खोजने का प्रयास करता है।

लगे हाथों यह स्पष्ट कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि जीवन चरित मूलक आलोचना और मनोवैज्ञानिक आलोचना में क्या अन्तर है ? दोनों ही प्रकार की आलोचनाओं में कवि के व्यक्तित्व पर बल दिया जाता है किन्तु जीवन-चरित मूलक आलोचना में जहाँ कवि के जीवन से सम्बद्ध बाह्य घटनाओं, पारिवारिक परिवेश एवं सगे सम्बन्धियों के वातावरण के अध्ययन को लेखनी का विषय बनाया जाता है वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना में कवि के मन स्तरों का अन्वीक्षण कर उसके मन की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। दूसरे, जीवन-चरित मूलक आलोचना में कवि के जीवन के माध्यम से कृति तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना में कृति के माध्यम से कवि के अन्तस्तल तक पहुँचने का प्रयत्न निहित रहता है।

(8) जीवन-चरित मूलक आलोचना — जैसा कि आलोचना के नामकरण से ही स्पष्ट है, इस प्रकार की आलोचना पद्धति में कवि के जीवन-चरित्र को विशेष महत्त्व दिया जाता है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि किसी भी कृति के पूर्ण ज्ञान के लिए कृति कार के जीवन की प्रमुख घटनाओं-मुख्यतः कवि के जीवन को जिन घटनाओं ने अत्यधिक प्रभावित किया है, की जानकारी परमावश्यक है। यहाँ पर ऐतिहासिक आलोचना और जीवनचरित मूलक आलोचना के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। ऐतिहासिक आलोचना में तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की जानकारी पर अधिक बल दिया जाता है जो अपने युग के समस्त समाज को येन-केन प्रकारेण प्रभावित करती हैं जब कि जीवनचरित मूलक आलोचना में कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध घटनाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् 'सैन्ट व्यव' जीवनचरित मूलक आलोचना के प्रबल समर्थक हैं। आपके अनुसार जिस प्रकार फल को जानने के लिए पेड़ को जानना आवश्यक है उसी प्रकार किसी कृति की सम्यक् जानकारी प्राप्त करने के लिए कृतिकार के जीवन की जानकारी प्राप्त करना भी आवश्यक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'सैन्ट व्यस' के लिए साहित्य की तुलना में साहित्यकार का जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आप यह मान कर चलते है कि साहित्यकार के जीवन की

ारी के प्रकाश में ही उसके साहित्य का सही और उचित मूल्याङ्कन किया जा ता है। इसलिए आलोचक के लिए आवश्यक है कि वह साहित्यकार के जीवन को अपने अनुसन्धान का विषय बनाए। आलोचक को चाहिए कि वह निष्पक्ष भाव से अर्थात् अपने 'स्व' का परित्याग कर कृतिकार के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करे। कवि के जन्म से लेकर कृति के प्रकाशन में आने तक के जीवन की समस्त घटनाओं का सकलन करना आलोचक का कर्त्तव्य है। कवि का पारिवारिक वातावरण, स्वयं कवि एवं उनके परिवारजनों की शिक्षा-दीक्षा, कवि के गुरुजनों भाई-बहिनो, मित्र-मण्डली के सदस्यो आदि की विचार-सरणी, उनके रहन-सहन का तरीका आदि सभी का आलोचक को संकलन कर लेना चाहिए। यहाँ तक कि कवि के विवाह आदि की सफलता असफलता, माता-पिता से प्राप्त प्रेम, विरक्ति उसकी प्रेम-लीलाओ आदि का लेखा-जोखा भी आलोचक को करलेना चाहिए। इन सब के माध्यम से ही कवि की जीवन-लीला का संचालन होता है। जीवन-चरित मूलक आलोचकों का अभिमत है कि कवि के जीवन का स्वरूप ही कला और साहित्य मे मूर्त रूप ग्रहण करता है। इनके अनुसार यदि कोई आलोचक कवि के जीवन से पूर्णतया परिचित नही है वह उसकी कृति के सही आख्यान या मूल्याङ्कन में सफल नही हो सकता।

उपर्युक्त आलोचना पद्धति को लेकर आलोचकों मे काफी विवाद रहा है। कतिपय विद्वानो के अनुसार यह पद्धति कोई मौलिक पद्धति नही है बल्कि यह ऐतिहासिक आलोचना का ही एक प्रकार है किन्तु यह उचित नही है। दोनो पद्धतियो के अन्तर को हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं। दूसरे कुछ विद्वान् इसे मनोवैज्ञानिक आलोचना के अन्तर्गत ही परिगणित करना चाहते हैं। यह भी उचित नही कहा जा सकता। इन दोनो आलोचना-पद्धतियों के अन्तर को हम मनोवैज्ञानिक आलोचना शीर्षक के अन्तर्गत प्रदर्शित कर चुके है। अत: स्पष्ट है कि जीवन-चरित मूलक आलोचना एक स्वतन्त्र आलोचना पद्धति है जो समय के क्रम मे स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुई है। गगाप्रसाद पाण्डेय, अमृतराय, प्रतापनारायण टण्डन प्रभृति विद्वान् इस आलोचना पद्धति के पोषक हैं।

इस आलोचना पद्धति मे विद्वानों ने अनेक दोषों का निदर्शन किया है। सर्व प्रथम आरोप तो यह है कि समकालीन कवि के जीवनवृत्त की जानकारी तो प्राप्त की जा सकती है किन्तु प्राचीन कवियों के जीवन-वृत का ज्ञान लगभग असम्भव रहता है। इस प्रकार क्या उन कवियो की कृति का सही मूल्याङ्कन नही हो पाएगा? सैण्ट व्यव का उत्तर है–हाँ! किन्तु यह सही नही है। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास जायसी, बिहारी, देव, केशव आदि कवियों की रचनाओं का सागोपाग विवेचन हिन्दी साहित्यमे विद्यमान है। दूसरा आरोप यह है कि जीवन में अनेक घटनाएँ घटती रहती किन्तु उन सभी में समान प्रतिक्रियाएँ जन्म लें आवश्यक नही है। फिर साहित्य

तो प्रतिक्रियाओं का परिणाम होता है न कि घटनाओं का । घटना तो एक स्थूल तत्त्व है जिसे बाहर से देखा जा सकता है । इसके विपरीत प्रतिक्रिया एक मानसी तत्त्व है जिसे बाहर से नहीं देखा जा सकता । फलतः जीवन की घटनाएं किसी कृति के सही मूल्याङ्कन में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह नहीं करती यह आरोप कुछ सीमा तक ही सही है क्योंकि साहित्य एक जटिल एवं अनेक तत्त्व संकलित विधा होती है । आलोचना की कोई भी पद्धति केवल अपने आप में पूर्ण नहीं होती । सभी पद्धतियों के यथावश्यक सहयोग से कोई एक पद्धति की प्रधानता में साहित्य के तत्सम्बद्ध स्वरूप को प्रकाशित किया जाता है । इसलिए आवश्यक है कि पाठक को कृति की सम्यक् जानकारी के लिए उन सभी ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए जिन में आलोचकों ने अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार उस कृति की आलोचना की है तभी आलोच्य कृति के सम्बन्ध में किसी एक सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है ।

अन्त में कहा जा सकता है इस प्रकार की आलोचना पद्धति में जीवन-चरित एक ऐसे वट-वृक्ष का रूप धारण कर लेता है जिसकी विविध शाखाएँ कृतिकार की ओर अनायास संकेत करती रहती है फिर भी इसके पश्चात् कृति में काफी कुछ बचा रह जाता है जिनका ज्ञान हमें आलोचना की अन्य विभिन्न पद्धतियों से होता है ।

(9) मार्क्सवादी आलोचना—इसी आलोचना को कुछ विद्वान् प्रगतिवादी आलोचना के नाम से भी अभिहित करते है । आधुनिक युग में तीन विद्वानों का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है—(1) डार्विन, (2) फ्रायड और (3) मार्क्स । इन विद्वानों के चिन्तन और मनन ने युगान्तर की स्थापना की है । प्रथम विद्वान् ने विकासवाद, दूसरे ने मनोविज्ञान और तीसरे ने समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना की । तीनों ने ही अपने मत-स्थापन में प्रसंगवश साहित्य सम्बन्धी विचार भी प्रकट किये हैं । फलतः इन विद्वानों के विचारों ने साहित्य एवं कला को काफी सीमा तक प्रभावित किया है । मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार साहित्य की जो आलोचना की जाती है उसे मार्क्सवादी आलोचना कहा जाता है ।

मार्क्सवादी विचारधारा का संक्षिप्त निष्कर्ष यह है कि समस्त सामाजिक सम्बन्धों अथवा क्रिया-प्रतिक्रियाओं के मूल में अर्थ-व्यवस्था की ही स्थिति रहती है अर्थात् समस्त सामाजिक समस्याओं का मूल कारण उस समाज की अर्थ-व्यवस्था में निहित रहता है । वस्तु जगत् परिवर्तनशील है । फलतः इस परिवर्तनशीलता के साथ-साथ अर्थ-व्यवस्था भी परिवर्तित होती रहती है । साहित्य के उद्गम का भी मूलकारण यह परिवर्तित अर्थ-व्यवस्था ही होती है अथवा यों भी कह सकते हैं कि मार्क्स साहित्य या कला को परिवर्तित अर्थ-व्यवस्था का परिणाम मानता है और साहित्य में उसी की अभिव्यक्ति भी देखना चाहता है । फलतः मार्क्सवादी आलोचक प्रत्येक प्रकार के साहित्य में इसी व्यवस्था की खोज करता है । इनकी दृष्टि में जिस

साहित्य में इस प्रकार की व्यवस्था की अभिव्यक्ति है वही उच्चकोटि का साहित्य होता है। दूसरी बात जिसे मार्क्सवादी आलोचक साहित्य से आशा करता है वह यह है कि आलोच्य साहित्य में सामाजिक यथार्थ के चित्रण के साथ-साथ साहित्यकार इस समाजवादी आदर्श को किस सीमा तक जन-मन तक पहुँचाने मे सफल हुआ है अथवा जन-मन को समाजवादी आदर्श के प्रति प्रेरित कर सका है।

मार्क्स का दूसरा मूलभूत सिद्धान्त है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। इस सिद्धान्त का तात्पर्य है कि सामाजिक विकास का मूल संघर्ष मे निहित है अर्थात् यह समस्त विश्व द्वन्द्वमय है। इस द्वन्द्व की तीन अवस्थाए हैं—(1) सामान्यावस्था (थीसिस) (2) प्रत्यवस्था (एन्टी थीसिस) (3) समन्वयावस्था (सिन्थीसिस) विश्व के प्रारम्भ मे सामान्यावस्था रहती है। जब जीवन आगे बढने लगता है तो सामान्यावस्था के विरोध में प्रत्यवस्था का आविर्भाव होता है और इस प्रकार दोनो अवस्थाओ का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यह संघर्ष चलता रहता है फिर इसके पश्चात् समन्वयावस्था का आविर्भाव होता है और इसका (संघर्ष का) शमन हो जाता है। प्रकृति या भौतिक जगत् यही पर समाप्त नही जाता बल्कि वह इस प्रक्रिय को पुनःदोहराने लगता है और इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है।

उपर्युक्त दार्शनिक तथ्य को साकार जगत् मे इस प्रकार देखा जा सकता है। प्रारम्भ में मनुष्य समान स्तर पर समान सुविधाओ का उपभोग करता था। सुविधा प्राप्ति में वस्तुओं के आदान-प्रदान की प्रमुखता थी किन्तु मुद्रा के आविष्कार ने सुविधाओं के क्रय को एकाकी बना दिया क्योकि जिस के पास जितनी अधिक मुद्राएँ थी वह उतनी ही अधिक सुविधाओ का क्रय करने मे सक्षम होता चला गया। परिणामतः मनुष्यों मे धन-सग्रह की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ लिया। फलतः अमीर और गरीब के दो वर्ग बन गये। उधर राज्यतन्त्र के उदय के साथ शासक और शासित, अधिकारी और अधिकृत जैसे वर्ग प्रकाश मे आये। सक्षेप मे हम कह सकते है कि मानव समुदाय मुख्यत. दो वर्गो–शोषक एव शोषित–मे विभाजित हो गया। यही से वर्ग सघर्ष अर्थात् समानावस्था और प्रत्यवस्था का सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस वर्ग संघर्ष का शमन ही समन्वयावस्था कहलाती है। मार्क्स इस अवस्था के आगमन के लिए लालायित है।

उपर्युक्त विवेचन के परिपेक्ष्य मे ही मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी आलोचना को देखा जा सकता है। मार्क्सवादी आलोचक इसी परिवर्तित अर्थव्यवस्था और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के वर्ग सघर्ष के परिप्रेक्ष्य मे ही साहित्यानुशीलन करता है। वस्तुतः उसकी दृष्टि समाज के आर्थिक वैषम्य पर केन्द्रित रहती है। वह आलोच्य कृति मे शोषकों के प्रति सहानुभूति और शोषितो के प्रति भर्त्सना की अभिव्यक्ति देखना चाहता है। इस प्रकार की आलोचना मे वही कृति श्रेष्ठ होती है जिसमें श्रमिकों के उत्साह, परिश्रम उल्लास और उनके प्रति सामाजिक व्यवहार के साथ-साथ पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का सशक्त विरोध निहित रहता है।

मार्क्सवादी आलोचना की कुछ सीमाएं हैं। फलतः यह आलोचना विश्व-साहित्य में अधिक लोक प्रिय नहीं हो पायी। इस का सब से पहला दोष यह है कि इस प्रकार का आलोचक पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहता है क्योंकि प्रत्येक मार्क्सवादी आलोचक साहित्य मे केवल समाजवादी दृष्टिकोण को ही देखना चाहता है। फलतः वह केवल प्रगतिशीलता को ही साहित्य की मात्र कसौटी मानता है तथा नैतिक आदर्शो, अध्यात्म दर्शन की उपेक्षा करता है। मार्क्सवादी आलोचना का दूसरा दोष यह है कि वह काव्य में आत्माभिव्यक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। इस प्रसंग में यह बताना असंगत नही होगा कि स्वयं मार्क्स, एंजिल्स तथा लेनिन ने काव्य मे आत्मा-भिव्यक्ति को अस्वीकार नहीं किया तथा इन चिन्तकों की दृष्टि में साम्यवादी सिद्धान्तों की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति को ही उचित स्थान दिया है। आत्माभिव्यक्ति के सिद्धान्त की अस्वीकृति स्टालिन के समय से प्रारम्भ हुई और काव्य में साम्यवादी सिद्धान्तों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति पर बल दिया जाने लगा। यही वह समय था जब प्रगतिवादी आलोचना का क्षेत्र सीमित एवं संकुचित हो गया। हिन्दी में शिवदान सिंह, चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा, प्रकाश चन्द्र गुप्त आदि प्रगतिवादी आलोचक माने जाते हैं।

(10) अस्तित्ववादी आलोचना–अस्तित्ववाद पाश्चात्य दार्शनिकों की नैराश्य प्रवृत्ति का परिणाम है जो आगे चल कर कतिपय साहित्यकारों ने इसका साहित्य मे प्रयोग कर उसकी पुष्टि या सिद्धि का प्रयास किया। आज के युग की यह विशेषता है कि जो तथ्य अस्पष्ट एवं अपूर्ण होता है उसके सम्बन्ध में बात-चीत करना एक फैशन का द्योतक हो जाता है। यही स्थिति अस्तित्ववाद की भी रही। इस विचार-धारा को जीवन और साहित्य में कम ढाला गया और इस पर बात-चीत ही अधिक की गयी। जब साहित्य मे इस विचारधारा के प्रयोग प्रारम्भ हुए तब उस दृष्टि से समकालीन ग्रन्थों की आलोचना भी की जाने लगी। फलतः अस्तित्ववाद को आधार बना कर साहित्यिक-ग्रन्थों की जो आलोचना की जाती है उसे अस्तित्ववादी आलोचना कहा जाता है।

अस्तित्ववाद से अभि प्राय—अस्तित्ववाद से तात्पर्य मुख्यतः मानव के अस्तित्व की स्थापना से है। यों तो अस्तित्ववाद का प्रादुर्भाव ईसाई धर्म प्रचारकों के चिन्तन में द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व ही हो चुका था जिसमें मानव का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर को माना गया था। इसमें काण्ट हिगेल आदि से यह भिन्नता थी कि वे ईश्वर को मानव का अन्तिम लक्ष्य तो मानते हैं कि मानव को पराधीन, अपूर्ण आदि कह कर उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते जबकि अस्तित्ववादी धार्मिक दार्शनिक ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हुए भी मानव की स्वतन्त्र सत्ता या अस्तित्व को भी स्वीकारते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् फ्रांस में 'जाँ पाल सार्त्र' के चिन्तन और मनन ने अस्तित्ववाद को एक नवीन दिशा प्रदान की। अस्तित्ववाद के इस स्वरूप ने ईश्वर की सत्ता को पूर्णतः नकार दिया और 'मानव स्वयं अपना विधाता

है' के विचार को प्रमुखता प्रदान की। इसी विचारधारा ने आगे चल कर कला और साहित्य में अपना स्थान बनाया। स्वयं 'सार्त्र' ने अपने नाटकों और उपन्यासों में इस विचारधारा को साकार रूप प्रदान किया।

सार्त्र के अनुसार यह गलत है कि सार अस्तित्व का पूर्ववर्ती है बल्कि सत्य यह है कि 'अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है।' कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का निर्माण पहले से ही कुछ सोच-समझ कर नहीं किया गया है बल्कि मनुष्य स्वतः ही अस्तित्व में आता है और फिर उसे क्या करना है या क्या करना चाहिए अर्थात् सुकर्म प्रकाश में आते हैं। संक्षेप में यों कह सकते है कि मनुष्य अपने आप को जो बनाता है, वह वही है, उसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। यह इस सिद्धान्त का प्रथम सोपान है।

अस्तित्ववाद का दूसरा सोपान है कि मानव स्वयं अपने प्रति उत्तरदायी है। वह अपूर्ण है किन्तु पूर्ण बन सकता है। मानव की वर्तमान के प्रति जो रुचि-स्वतन्त्रता है वही उसकी भविष्य निर्मात्री शक्ति है। इस प्रकार वह स्वयं अपना भविष्य निर्माता है। फलतः उसका कोई भी कार्य किसी अन्य के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता है। दूसरे, सार्त्र के अनुसार मानव के लिए कोई अन्य तो है ही नहीं जो कुछ अन्य है वह तो उसका साधन मात्र है। इसके लिए सार्त्र दो शब्दों का अपने परिभाषिक अर्थ में प्रयोग करता है—(1) चुनाव की अनन्ता और (2) निर्णय की निरन्तरता। सार्त्र पारम्परागत चुनाव के महत्त्व को स्वीकार नहीं करता बल्कि उसका विचार है कि मनुष्य अपने अस्तित्व को एक बार के चुनाव निर्णय से बनाये नहीं रख सकता क्योकि अस्तित्व के स्वरूप में एकरूपता नहीं है। फलतः निर्णय की निरन्तरता अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार रुचि की स्वतन्त्रता और निर्णय की निरन्तरता उसे अपूर्ण से पूर्ण की ओर अग्रसर करती है और एक दिन वह स्वयं विधाता बनने की स्थिति के निकट पहुँच जाता है।

अस्तित्ववाद का तीसरा सोपान है कि मानव का अस्तित्व चेतना के आधार पर नहीं है बल्कि चेतना का आधार अस्तित्व है। यहाँ पर सार्त्र आत्मा की तुलना में शरीर को महत्त्व देता है क्योंकि शरीर ही अस्तित्व है सार तो उसके बाद की प्रक्रिया है कि उसे क्या बनना है।

चौथा सोपान है कि बुराई, संघर्ष अपूर्णता, अभाव, आदि जीवन के अभिन्न अग हैं और दुख अपूर्णता का जनक है।

पाँचवें सोपान के अन्तर्गत सार्त्र के मृत्यु सम्बन्धी विचारो को लिया जा सकता है। अस्तित्ववाद के अनुसार मृत्यु एक सयोग है इससे मानव का अस्तित्व कुछसमय के लिये लुप्त हो जाता है किन्तु समाप्त नहीं होता।

अस्तित्ववाद का छठा सोपान है प्राचीन परम्पराओ, रीति नियमों एवं नैतिकता के प्रति विद्रोह। इसके अनुसार जीवन का अस्तित्व स्वयं में इतना मौलिक और विशिष्ट है कि उसे किसी परम्परा या ढाँचे में नहीं ढाला जा सकता।

अन्त में कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद व्यक्तिनिष्ठ निरीश्वरवादी दर्शन है जिसमें मानव का अस्तित्व है सर्वोपरि है।

डॉ० जगदीशप्रसाद कौशिक

जन्म-तिथि : 6 सितम्बर 1930
जन्म-स्थान : ग्राम : पोता, जिला : महेन्द्रगढ़ (हरियाणा)
शिक्षा : एम. ए. [दिल्ली], पी-एच. डी. (राजस्थान)
रचनाएँ : भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास
: संक्षिप्त हिन्दी व्युत्पत्ति कोश
: भाषा वैज्ञानिक निबन्ध
: व्यावहारिक हिन्दी-व्याकरण
: शुद्ध हिन्दी
: अच्छी हिन्दी
: काव्य एवं काव्य-रूप
: अलंकार-शास्त्र
: छन्द-शास्त्र
: काव्य-दर्पण
: भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिमान

डॉ० कौशिक हिन्दी जगत् के एक जाने माने भाषा वैज्ञानिक हैं। विगत तीन दशकों से इनकी लेखनी भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अविराम गति से कार्यरत है।

हिन्दी के साथ-साथ डॉ० कौशिक संस्कृत, पंजाबी, राजस्थानी एवं विभिन्न पहाड़ी बोलियों के अच्छे विद्वान हैं।

सम्प्रति : श्री कल्याण राजकीय महाविद्यालय, सीकर (राजस्थान) में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित।